विनय-पत्रिका

और

तुलसीदास

लेखक

नरेन्द्र पाण्डेय

प्रकाशक

साहित्य-सेवा-सदन एवं शारदा लाइब्रेरी

वाराणसी

प्रकाशक की ओर से

अपने लक्ष्य के अनुसार साहित्य-सेवा-सदन का यह सोलहवाँ रत्न 'विनय-पत्रिका और तुलसीदास' साहित्य-प्रेमियों एवं छात्रों की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। यों तो हमारे यहाँ से पूर्व प्रकाशित 'विनय-पत्रिका' में उसके विद्वान् सम्पादक श्री वियोगी हरिजी द्वारा संक्षिप्त समीक्षा दी गई है, जो उनके दृष्टिकोण की द्योतिका है परन्तु प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री नरदेव पाण्डेय ने साहित्य और सौहित्य दोनों के रसास्वादन के लिए 'विनय' की विस्तृत समीक्षा अपने मौलिक दृष्टिकोण से किया है। इससे विनय-पत्रिका के प्रेमियों को एक नया प्रकाश-मिलेगा। इसमें अनेक ऐसे नवीनतम तथ्यों का समावेश है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

साहित्यवाटिका, सारनाथ वाराणसी,
अक्षयतृतीया, २०१५ वि०
२२ अप्रैल, १९५८ ई०

गोपालदास 'सेवक'

निवेदन

'विनय-पत्रिका' के सम्बन्ध में जो कुछ लिखना था वह लिखा ही गया है, साथ ही उसके आधार पर गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवन-दशाओं पर नवीनतम दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। इसके लिए गवेषणात्मक पद्धति अपनायी गई है।

अब यहाँ केवल तुलसीदास के सम्बन्ध में ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के मूल विषय 'भक्ति' का सामान्य विवेचन आवश्यक है। यह इसलिए है कि प्रायः ऐसी आलोचना सुनी जाती है कि हिन्दी के विद्वान् यदि किसी विषय से सर्वथा अपरिचित हैं तो वह है इतिहास-विज्ञान। कार्य-कारण से आबद्ध होकर भौतिक विज्ञान की भाँति मानव-इतिहास भी अब विज्ञान बन गया है। अतएव तुलसीदास के विचारों तथा उनके कवित्व के सौंदर्य और पांडित्य का वर्णन ही यथेष्ट नहीं है, यह भी अनिवार्य रूप से बताना चाहिये कि उनके विचारों का आविर्भाव कैसे और किस क्रम से हुआ। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद ने कहा 'यते महि स्वराज्ये' अर्थात् हम स्वराज्य के लिए सदा प्रयत्न करें (ऋ० ५।६६।६); 'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये' अर्थात् मैं इन्द्र हूँ, मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता (ऋ० १०।८५।३) और न ऋतेश्रान्तस्य सख्याय देवाः' अर्थात् परिश्रम के बिना देवों की मैत्री प्राप्त नहीं होती इत्यादि। फिर ऋग्वेद के ये विचार कैसे और किस क्रम से 'कोउ नृप होइ मोहि का हानी। चेरि छाँड़ि नहिं होइब रानी ॥' तथ 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥' में बदल गये। आलोचकों के कथनानुसार अप्रिय और कठोर सत्य यह है कि मध्य एशिया और अफगानिस्तान के अशिक्षित, अर्द्धबर्बर एवं असभ्य तुर्क पठान जब हमारे देशको पददलित कर रहे थे, उसी समय सन्तों ने भक्ति की अमृतधारा बहानी आरम्भ कर दी थी।

उपनिषद्-काल तक हमारे देश में भक्ति की वर्तमान कल्पना का जन्म नहीं हुआ था। इस विषय की गवेषणा करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी ने, बाल गंगाधर तिलक ने भी यह स्वीकार किया है कि श्रीमद्भगवद्गीता से पूर्व भक्ति की विद्यमानता का कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। 'शाण्डिल्य सूत्र', 'नारद पञ्चरात्र', 'भागवत पुराण' आदि ग्रंथ भगवद्गीता से बहुत बाद के हैं। दक्षिण भारत में फैली हुई अलवाड़ों की भक्ति भगवद्गीता ही से ली गई है।

भगवद्गीता की भक्ति श्री मद्भागवत पुराण तक पहुँच कर 'दासता' के पर्यायवाचक अर्थ के रूप में ढलने लग गयी थी। स्मृतियों ने इसे अवैदिक कहा है। शंकराचार्य ने भी वेद-विरुद्ध सिद्ध किया है (वेदान्त सू० शं० भा० २।२।-४४)। भक्ति का विवाद जिस समय चल रहा था उसी समय मुसलमानों के आक्रमण पर आक्रमण आरम्भ हो गये। रामानुज की भी भक्ति अलवाड़ों के सिद्धान्त से अनुप्राणित थी, उसमें केवल तर्क शेष रह गया था। चौदहवीं शताब्दि तक बल्लभाचार्य-काल में यह उन्मादपूर्ण बन जाती है और तर्क समाप्त हो जाता है संक्षेप में भक्ति का इतिहास हमारे देश की दासता का इतिहास है।

गांधीजी 'दरिद्रनारायण' के भक्त थे उन्होंने दासता के सिद्धान्त से बराबर संघर्ष किया। मध्यकालीन सन्तों के भक्ति-दर्शन और गांधी के दर्शन में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। 'दिनकर' की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का कथन आया है कि 'हम बिना जाने हुए बढ़ते जा रहे हैं। आणविक युग में अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौका नहीं दिया दिया जायेगा और मौका चूनने का अर्थ होगा सर्वनाश।' यही कारण है कि हम उस जीवन-दर्शन को स्वीकार नहीं कर सकते जिसका प्रतिनिधित्व मध्यकालीन सन्तों ने किया है।

वाराणसी,
अक्षय तृतीया २०१५ वि०। } **नरदेव पाण्डेय**

अनुक्रम

—o❀o—

विनय-पत्रिका और तुलसीदास

विनयावली से विनय-पत्रिका

गोस्वामी तुलसीदास जी का नाम आज विश्व के श्रेष्ठतम कवियों में शीर्षस्थान पर है। मानव समाज के कल्याण के लिए उनकी देन अद्वितीय है। सभी गण्यमान् जागरूक विद्वानों के लिए महात्मा तुलसी अध्ययन के विषय हो गए हैं। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का मूल्यांकन इनके सम्बन्ध में किए गये अध्ययनों एवं समालोचनाओं से किया जा सकता है। विश्व की प्रत्येक बलवती सम्पन्न भाषा में इनके 'रामचरित मानस' का अनुवाद हो चुका है। 'विनय-पत्रिका' उसके बाद की रचना है। यह संवत् १६६६ वि० में लिखी गई है। इसकी प्रमाणिक प्रति में १७६ पद मिलते हैं। अन्य प्रतियों में, जो उनकी मृत्यु संवत् १६८० के बाद की हैं, २८० और २७६ पद मिलते हैं।

इस प्रकार १०४ या १०३ पद जो अधिक हैं, उनमें से कितने तुलसीदासजी के हैं और कितने अन्य लोगों ने अपनी ओर से जोड़ दिया है, ठीक नहीं कहा जा सकता है। कुछ भी हो किन्तु जो पद तुलसी के हैं वे सं० १६६६ और १६८० के बीच में ही बनाए गये।

सं० १६६६ वाली प्रति में पदों का जो क्रम दिया गया है, वह दूसरी किसी भी प्रति से नहीं मिलता है। सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि इसमें ग्रन्थ का नाम 'विनय-पत्रिका' न देकर 'विनयावली' दिया है। जिस प्रकार 'रामचरित मानस' सर्व साधारण में 'रामायण' नाम से प्रसिद्ध है, उसी प्रकार 'विनयावली' भी 'विनय-पत्रिका' के नाम से प्रसिद्ध है। किसी भी कवि अथवा

लेखक से इसका यह नाम नहीं सुना जाता है। इस प्रति से बहुत सी मौलिक एवं रहस्य की बातों का पता चलता है।

इसका एक नाम 'राम गीतावली' भी है। सं० १६६६ वाली प्रति के ही अन्त में जो पुष्पिका है, वह इस प्रकार है :—

'इति श्री तुलसी दास रचित [राम गीता] वली समाप्त।'

उपर्युक्त विवरण के अनुसार इसमें कुल १७६ गीत हैं। यह प्रति 'विनय-पत्रिका' के रूप में नहीं है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने इसे 'पत्रिका' का रूप कब दिया, संदिग्ध है। किन्तु अन्तर्साक्षियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसी दास जी ने इसे अपने जीवन-काल ही में 'पत्रिका' का रूप दे दिया था। यही नहीं अपने जीवन के अन्तिम दिनों ही में इसे सम्पूर्ण भी किया था। देखिए एक स्थल पर उन्होंने अपनी दीनता का निवेदन किस प्रकार किया है:—

'तुलसिदास अपनाइए कीजे न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे।'

इसी प्रकार एक स्थान पर और लिखा है :—

'थके नयन-पद-पानि सुमति-बल संग सकल बिछुर्‍यो।
अब रघुनाथ सरन आयो भव-भय विकल डर्‍यो ॥९१॥

दोनों प्रसङ्गों से सिद्ध होता है कि वे अति वृद्ध हो गए थे और उनकी सभी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गईं थीं, साथ ही बुद्धि भी काम नहीं दे रही थी। सब प्रकार से अशक्य हो जाने पर श्री रघुनाथ जी की शरण में गए थे। उन्हें संसार के दुःखों का अधिक भय था। वे चिन्ताग्रस्त होकर अपने इष्टदेव के श्रीचरणों में निवेदन-स्वरूप 'विनय-पत्रिका' लिखे हैं। इस 'पत्रिका' में कुल २७६ पद हैं। अन्त में—'परी रघुनाथ हाथ सही है' से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ को गोस्वामी तुलसी दास जी ने स्वयं पूरा किया था।

'विनय-पत्रिका' दीन की, बाप ! आपुही बाँचो।'

इसके आधार पर हम इसे प्रबन्ध काव्य के रूप में मान सकते हैं, किन्तु आरम्भ में कुछ ऐसे भी पद आ गए हैं, जिनका कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता

है। उन पदों के कारण इसकी प्रबन्ध-पटुता में दोष आ गया है। गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती, हनुमान, लक्ष्मण तथा भरत आदि की वन्दना से आरम्भ करना तो अपने इष्टदेव तक पहुँचने का साधन समझा जा सकता है। यह अंश उचित जान पड़ता है। राम-भक्ति की प्राप्ति के लिए इनसे सहायता माँगी गई है। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में कुछ ऐसे भी पद आ गए हैं जिनका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। उदाहरण के लिए :—

> जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न।
> त्यों-त्यों सुकृत सुभट कलि भूपहिं निदरि लगे बहि काढ़न॥
> ज्यों-ज्यों जल मलीन त्यों-त्यों जय-गन-मुखलाहैं आढ़न।
> 'तुलसिदास' जगदघ जवास ज्यों अनघ मेघ लागे डाढ़न॥२१॥

इस पद से 'विनय-पत्रिका' से कोई सम्बन्ध नहीं है और न कोई ऐसा प्रसङ्ग ही है। इसी प्रकार :—

'अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु,' से 'पत्रिका' का रूप बिगड़ जाता है। चित्रकूट की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। ये पद वास्तव में तुलसीदास ही के हैं किन्तु इनकी रचना उनके जीवन की किन्हीं एक अन्तर्दशाओं में कभी स्वतंत्र रूप से हुई होगी। उनके जीवनकाल के पश्चात् किसी दूसरे के द्वारा 'विनय-पत्रिका' के प्रसङ्ग को ठीक-ठीक न समझ कर इस प्रकार के अप्रासङ्गिक पद भी स्थान पा गए हैं। ऐसे पद 'विनय' के नहीं हैं। उन्हें अलग करके ही शुद्ध रूप समझा जा सकता है। तुलसीदास ने स्वयं इस ग्रंथ में स्पष्ट कर दिया है कि वे शिव जी से रामभक्ति में सहायक सिद्ध होने वाली ही सहायता चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे किसी से कुछ भी नहीं चाहते थे—

> देहु कामरिपु राम चरन रति।
> तुलसिदास प्रभु हरहु भेदमति॥ ७॥

'विनय-पत्रिका' लिखने की जिज्ञासा तुलसीदास के मन में संवत् १६६५ के बाद ही हुई है। नीचे के पद में उस समय के घोर अकाल की दशा का तथा उससे मुक्ति का प्रमाण मिलता है :—

दीन दयालु दुरित दारिद दुःख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव, दुआर पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के वचन वेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेवमई है।
तिनकी मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति प्रति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥३॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखण्ड पापरत अपने-अपने रंग रई है ॥४॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसत खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ साधन भए अफल, सफल नहिं सिद्ध सई है।
कामधेनु-धरनी कलि गोमर, बिवस बिकल जामति न बई है ॥६॥
कलि करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीस कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिए तरजनी, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ॥८॥
दीजै दादि देखि नातौ बलि, मही मोद-मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवधि चितवन चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानन्द हेरि हँसि, करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है ॥१०॥
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब, सुकृत-सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास साँसति बितई है ॥११॥
उथपे-थपन, उजार-बसावन, गई बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत-आरति हर, अभय बाँह केहि केहि न दई है ॥१२॥

—विनय १३९

इस पद में 'जामति न बई है' से ऐसा ज्ञात होता है कि अकाल के कारण बोये हुए बीज उगते ही न थे। जब उसके निराकरण के लिए उद्योग किया गया

तब विनय से दयार्द्र होकर—'करुना-बारि भूमि भिजई है' का वर्णन आया है। तत्पश्चात् 'अनायास साँसति बितई है' के बाद ही—'अभय बाँह केहि केहि न दई है' के आजाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विनय-पत्रिका' का रचना-काल संवत् १६६५ के बाद का ही है। इसमें अनेक प्रकार के रोगों का भी उल्लेख आया है :—

रोग बस तनु कुमनोरथ मलिन मन,
पर अपवाद, मिथ्या बाद बानी हई।
साधन की ऐसी विधि, साधन बिना न सिधि,
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई॥
पतित-पावन हित आरत अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबन्धु दई।
इन्हमैं न एकौ भयो बूझि न जूझयो न जयो,
ताहि तें त्रिताप तयो लुनियत बई है॥२५२॥

'रोगबस तनु' और 'लुनियत बई है' के प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि उस समय रोग का व्यापक प्रभाव था। लोग अपना कर्मफल भोग रहे थे। इसके साथ ही तुलसीदास ने स्वयं अपने लिए भी इसका प्रयोग किया। यह दशा उनके जीवनकाल के अन्त में ही आयी थी। 'विनय' में उनकी अन्यान्य अन्तिम-दशा का जो उल्लेख मिलता है, उस पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

इस प्रकार 'विनय-पत्रिका' का रचना काल संवत् १६६६ वि० के बाद ही सिद्ध होता है। अप्रासङ्गिक पदों को निकाल देने से इसकी गणना प्रबन्ध-काव्य में है। यह सत्य और उचित है।

भक्ति-पद्धति

'विनय-पत्रिका' में भक्ति-रस की निर्झरिणी फूट पड़ी है। इसका प्रवाह जड़ हृदय में भी चेतनता का संचार करता है। महात्मा तुलसी की भक्ति-पद्धति में सौंदर्य, शक्ति और शील के समन्वय से मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका प्रवृत्ति का परिष्कार और प्रसार होता है। आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होने वाले अपने को लोक-व्यवहार से अलग करके काम, क्रोध, मोह आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का प्रशस्त पथ जिस प्रकार पा सकते हैं उसी प्रकार लोक-व्यवहार के अन्तर्गत रहने वाले भी अपने विभिन्न कर्त्तव्यों में ही आनन्द की दिव्य ज्योति पा सकते हैं, जिसके द्वारा अलौकिक जीवन की प्रतिच्छाया दिखाई देने लगती है और मनुष्य के सभी शुभ कर्म जिनसे संसार का कल्याण होता आया है, परम प्रभु के लोक-रंजनकारी कर्मादि दिखलाई पड़ते हैं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन का महत्त्व और दैन्य का अनुभव भी है, जो सबसे आवश्यक अङ्ग है।

वास्तव में तुलसीदास जी भक्ति-योगी हैं, ये ज्ञान-योगी नहीं कहे जा सकते। फिर भी इनके भक्ति-योग में ज्ञान की सभी बातें समाहृत हैं। यही कारण है कि ज्ञान-योग और भक्ति-योग में कहीं भी विरोध नहीं पाया जाता। कहा भी है :—

'ज्ञानहिं भक्तिहिं कछु नहिं भेदा।'

इन्होंने अपनी भक्ति-पद्धति में अद्वैत की पदावली का समावेश अद्वैत-वादियों द्वारा भक्ति का प्रतिपादन करने के लिए ही किया है। अद्वैतवादी भक्ति के पोषक ही हैं, विरोधी नहीं। इतना अवश्य है कि वे ज्ञान-योग से भक्ति-योग को किसी न किसी रूप में कुछ न्यून समझते हैं; यही कारण है कि भक्त-शिरोमणि, मानव-मंगलाशा के एक मात्र सेवक गोस्वामी तुलसीदास ने 'भगति निरूपण विविधि विधाना' का पालन किया है। ब्रह्म, जीव और माया को

इन्होंने प्रस्तुत के साथ कहीं कहीं अप्रस्तुत के रूप में भी माना है। राम को ब्रह्म, लक्ष्मण को जीव और सीता को माया के रूप में दिखलाया है। राम पर इनकी दृष्टि माया से कहीं अधिक है। माया के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा है। तुलसीदास ने जीव, जगत और ईश्वर की त्रयी को न मानकर जीव, माया और ब्रह्म को माना है। लक्ष्मण जीव, सीता माया और राम ब्रह्म के रूप में दिखलाए गए हैं। ब्रह्म होने पर भी राम के नरत्व में कहीं बाधा नहीं पड़ी है। इसी प्रकार लक्ष्मण के अनन्त होने पर भी जीवत्व का सर्वत्र निर्वाह हुआ है। उनको पूर्ण रूपेण जीव समझा गया है। जीव और ब्रह्म से माया का विचार बहुत ही गूढ़ है। लोग उसी के फेर में रहते हैं और अपना अधिक से अधिक ज्ञान दिखलाते हैं। इस विषय को लेकर अधिक वाद-विवाद भी होता है। इसके निर्णय के लिए जब वे तुलसीदास की रचनाओं का आश्रय लेते हैं तब उनको 'विनय-पत्रिका' का निम्नलिखित पद अनायास ही आकृष्ट कर लेता है और उनकी बुद्धि इसमें से कुछ विशेष तत्व ग्रहण करती है—

केसव कहि न जाइ का कहिये ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति-दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
'तुलसिदास' परिहरै तीनि भ्रम सो आतम पहिचानै ॥१११॥

इस पद में गोस्वामी तुलसीदास ने सत्य-झूठ तथा दोनों की प्रबलता से अलग रह कर आत्म-तत्व में लीन होने के लिए उपदेश दिया है। किन्तु इन तीनों में वे स्वयं किसको अधिक श्रेय देते थे, यह जान लेना आवश्यक है। इसके लिए 'विनय' में स्पष्ट कर दिया है :—

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥—विनय०, १२०

इन तानों के भ्रम को दूर करने के लिए वे हरि-कृपा को प्रधानता देते हैं। जितने प्रपंच हैं, वे सब मिथ्या हैं। दुखों का जो अनुभव होता रहता है, उसका निवारण कैसे हो? इसके लिए तुलसी दास जी की ऐसी सम्मति है :—

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई।
देखत सुनत कहत समुझत संसय-संदेह न जाई॥
जौ जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगबारि सत्य, भ्रमतें दुख होइ बिसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै॥
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम - संतोष - दया - बिवेक तें ब्यवहारी सुखकारी॥
'तुलसिदास' सब बिधि प्रपंच जग, जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु को भव-त्रास नसावै॥
—विनय० १२१

इस पद को यदि सम्यक् दृष्टि से देखा जाय तो तुलसीदास का मत स्पष्ट हो जाता है। वे परमार्थ के दृष्टिकोण से संसार अथवा विधि-प्रपंच को असत्य मानते हैं, किन्तु उसका अन्वीक्षण नहीं करते हैं। यह बात 'जदपि झूठ स्रुति गावै' से स्पष्ट हो जाती है। वेद-शास्त्र के मतों की मीमांसा से भ्रम बढ़ जाता है। इसलिए संसार से मुक्ति के लिए दूसरा ही कोई मार्ग है। जिसमें विचार की कमी रहती है, उसे यह संसार शून्य दिखाई देता है। जो व्यक्ति विचारशील हैं, उनके लिए यह संसार बहुत ही भयकर दिखाई देता है। सम, सन्तोष, दया और विवेक से व्यवहार-कुशल मनुष्यों के लिए यह सुख देने वाला है। लेकिन अनेक यत्न करने पर भी इसका त्रास कम नहीं होता है। इसके लिए तुलसीदासजी राम की भक्ति और सन्तों की संगति को आवश्यक बतलाते हैं। एक मात्र इसी उपाय से भव-त्रास नाश हो सकता है। संसार वास्तव में तुलसीदास के मत से क्या है, नीचे के पद से समझिए :—

मैं तोहिं अब जान्यों संसार ।
बाँधि न सकहिं मोहिं हरि के बल प्रगट कपट-आगार ॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किये विचार ।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार ।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोर्यो हौं बारहिं बार ॥
सुनु खल, छल बल कोटि किए बस होहिं न भगत उदार ।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार ॥
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार ।
सो परि डरै मरै रजु अहितें बूझै नहिं व्यवहार ॥
निज हित सुनु सठ, हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार ।
'तुलसिदास' प्रभु के दासनि तजि भजहिं जहाँ मदमार ॥

—विनय०, १८८

तुलसीदास भी शंकराचार्य के परमार्थ और व्यवहार को मानते थे । इसकी सिद्धि दर्शन के क्षेत्र में, 'सो परि डरै मरै रजु अहितें बूझै नहिं व्यवहार', से हो जाती है । ज्ञान का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे शंकराचार्य के तो अनुयायी हैं किन्तु भक्ति के क्षेत्र में उनसे ये सर्वथा अलग हैं । व्यवहार को ये अधिक श्रेय देते हैं । ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग अधिक सरस, सुबोध और व्यापक है । इनकी दृष्टि में यह अधिक दृढ़ है । यह संसार चित्त के विलास मात्र से है और वास्तविक स्वरूप उसी चित्त ही में दिखायी देता है । राम की भक्ति से वह मन निर्मल हो चुका है, वह प्रसन्न भी है । इस पद में संसार को उन्होंने चुनौती दी है तथा नन्दकुमार की भी धाक जमायी है, जो एक मात्र साहित्य की बात है । आगे मन की रचना के सम्बन्ध में कितनी उत्तमता से प्रकाश डाला गया है, उसकी वस्तुस्थिति को समझिये और विचार कीजिए कि मन की बात तो मन में बैठ सकती है, किन्तु हमारा कल्याण तो मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही हो सकेगा । उनका कहना इस प्रकार है :—

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा॥
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हे बरिआई।
त्यागन, गहन उपेच्छनीय, अहि हाटक तृन की नाई॥
असन, बसन, बसु, बस्तु बिबिधि बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग-नरक, चर-अचर, लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये॥
रघुपति-भक्ति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
'तुलसिदास' कह चिद्-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥
—विनय०, १२४

मन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए लोग संन्यास का मार्ग अधिक उपयुक्त एवं सरल समझते हैं, किन्तु तुलसीदास जी इसे आडम्बर मानते हैं। वे इससे दूर रहते हैं। उनको बने-ठने संन्यासियों के वास्तविक जीवन का अनुभव है, उनके कर्मों से वे भली भाँति परिचित हैं। यह भी देखने में आता है कि इसके कारण संसार में अत्यधिक दुर्व्यवस्था फैलती रहती है। दिखलाने के लिए सभी ब्रह्मज्ञानी बनते हैं किन्तु मन सदा सांसारिक सुखों और धन की ओर लगा रहता है। इसलिए तुलसीदास जी का दृढ़ निश्चय है—

नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन-तरु है स्रम-फलनि फरो सो॥
तप, तीरथ, उपबास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि बेद परोसो॥
आगम-बिधि जप-जोग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥

बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥
'तुलसी' बिनु परतीति प्रीति फिरि फिर पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥

—विनय०, १७३

तुलसीदास जी ने अपने भक्तिमार्ग को राज-मार्ग की तरह सरल एवं सुगम बतलाया है। वे राम-भजन ही को प्रशस्त पथ-प्रदर्शिका मानते हैं। किन्तु इनका राम-भजन किस प्रकार का है? यह समझने की बात है। राम-भजन को लेकर कबीर आदि निर्गुण-धारा के भी सन्त चले हैं, लेकिन उन लोगों ने उसे राज-मार्ग नहीं कहा है, केवल 'कल्पहिं पंथ अनेक' का ही चिन्ह माना है। उनका पंथ 'श्रुति-सम्मत' भी नहीं है। इधर गोस्वामी जी ने जो मार्ग बतलाया है, उसके अनुसार उनके राम-भजन को सर्व-साधारण जानता है। वह सर्व प्रिय भी है। उसमें सब तरह के साधनों का निष्कर्ष और सभी इन्द्रियों का संयम भी दिया गया है। 'रामचरित-मानस' के अध्ययन से तो यह पूर्ण रूपेण जाना जा सकता है कि उस राम में रम जाना कितना स्वाभाविक, सरल और सुबोध है। हाँ, इसके लिए श्रद्धा और भक्ति का होना आवश्यक है। 'विनय' में उनका कहना भी है—

जौ मन भज्यौ चहै हरि सुर-तरु।
तौ तजि विषय विकार, सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम, सन्तोष, विचार विमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
काम, क्रोध अरु लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग जग रूप भूप सीता बरु॥
इहै भगति बैराग्य ग्यान यह हरि-तोषन यह सुभ व्रत आचरु।
'तुलसिदास' सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥

—विनय०, २०५

इस पद से तुलसीदास के शिव-प्रतिपादित कल्याणकारी राजमार्ग की रूप-रेखा तो समझ में आ रही है। 'ये चारि दृढ़करि धरु' के बाद सभी इन्द्रियों के संयम के साथ-साथ 'सेवाकर अनुसरु' आता है, जिसका सामान्य अर्थ, हाथ से सेवा करना और पैर से अनुसरण करना होता है। लेकिन अनुसरण का अर्थ हाथ से है अथवा पैर से? इस शंका का समाधान तुलसीदास जी ने स्वयं कर दिया है। 'अनुसरु' के अर्थ में उन्होंने तीर्थ-यात्रा को महत्व दिया है और 'सेवाकर' के अर्थ में मूर्ति-पूजा आती है। यात्रा के लिए उन्हीं के शब्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता है :—

चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम-सीय आस्रमनि चलत त्यों भए न स्रमित अभागे॥

—विनय०, १७०

अपने चरणों को धिक्कारते हैं कि 'तू क्यों नहीं तीर्थ-यात्रा करते करते थकता है। मूर्ति-पूजा के विषय में उनका अभिमत इस प्रकार है —

मन इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अँग सुभग बिन्दु-माधव छबि, तजि सुभाउ अवलोकु एक पलु॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु, नख-द्युति हृदय-तिमिरहारी।
कुलिस-केतु-नव जलज देख, बर. अंकुस मन-गज बस कारी॥
कनक जटित मनि नूपुर, मेखल कटि-तट रटति मधुर बानी।
त्रिवली उदर गँभीर नाभि-सर जहँ उपजे बिरंचि ग्यानी॥
उर बनमाल, पदक अति सोभित, बिप्र-चरन चित कहँ करषै।
स्याम-तामरस-दाम बरन बपु, पीत बसन सोभा बरषै॥
कर-कंकन केयूर मनोहर, देति मोद मुद्रिक न्यारी।
गदा-कंज-दर-चारु चक्रधर, नाग - सुंड - सम भुज चारी॥
कंबुग्रीव, छबि सींव चिबुक द्विज अधर अरुन उन्नत नासा।
नव राजीव नयन, ससि आनन, सेवक सुखद बिषद हासा॥
रुचिर कपोल, स्रवन कुंडल, सिर मुकुट, सुतिलक भाल भ्राजै।
ललित भृकुटि, सुन्दर चितवनि, कच निरखि मधुप अवली लाजै॥

रूप - सील - गुन - खानि दच्छ दिसि, सिंधु - सुता रत पद-सेवा।
जाकी कृपा कटाच्छ चहत सिव बिधि मुनि मनुज-दनुज-देवा॥
'तुलसिदास' भव-त्रास मिटै तब जब मति यहि सरूप अटकै।
नाहिं त दीन मलीन हीनसुख, कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै॥
--विनय०, ६२

इस पद के द्वारा तुलसीदास जी के मन में मूर्ति-पूजा करने के योग्य जिस मूर्ति की रूपरेखा है, उसका चित्रण तो है लेकिन मूर्ति-पूजा कैसे की जाय, इसका कोई विधान नहीं दिया गया है। उनके दृष्टिकोण से मूर्ति और मूर्ति-पूजा दोनों की महान् उपयोगिता है। इसका भेद 'दोहावली' के पद संख्या ४५४ में है, जहां ये 'प्रीति-प्रतीति' को इसका निष्कर्ष मानते हैं। इसी के कारण पत्थर की भी पूजा चल निकली, जैसा कि 'कवितावली' में उन्होंने लिखा है--

'प्रीति-प्रतीति बढ़ी 'तुलसी' तबतें सब पाहन पूजन लागे॥'
— कवितावली, उत्तर, १२८

मूर्ति-पूजा के महत्व एवं उसके चमत्कार के वर्णन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं। सीता की मूर्ति-पूजा से :—

'बिनय - प्रेम - बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसकानी॥'
—रामचरित मानस, बाल०, २४१

फिर भी गोस्वामी तुलसी दास जी मूर्ति-पूजा को कलियुग में प्रधानता नहीं देते हैं। केवल नाम के माहात्म्य को ही श्रेय देते हैं :—

'कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव-थाहा॥'

इस प्रकार की सराहना क्यों की गई है? स्वयं तुलसी दास ने बतलाया है—

बरतर कहि हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥
रामचरित बिचित्र बिधि नाना।
प्रेम सहित कर सादर गाना॥
—मानस, उत्तर, ५७

यह तो भक्त-शिरोमणि सन्त तुलसीदास के शाश्वत हरि भजन की रूप-रेखा हुई। इस असार संसार में जहाँ यातना ही यातना है, मनुष्य को क्या करना चाहिये, 'विनय' में देखिये :—

बीर महा अवराधिये साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै जानै सब कोय॥
बेगि, बिलंब न कीजिए, लीजै उपदेस।
बीज मंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस॥
प्रेम बारि तर्पन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय समिधि, अगिन छमा, ममता बलि देहु॥
अघ उचाटि, मन बस करै, मारै मदमार।
आकरषै सुख—संपदा—संतोष—विचार॥
जे यहि भाँति भजन किये, मिले रघुपति ताहि।
'तुलसिदास' प्रभुपथ चढ़्यो, जो लेहु निबाहि॥

—विनय०, १०८

इस भजन की आरती के लिए 'विनय' के इस पद पर विचार करें :—

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुखदुंद गोविन्द आनंदघन॥
अचर-चर रूप हरि सर्व गत सर्वदा वसत, इति बासना-धूप दीजै।
दीप निज-बोध गत क्रोध मद मोह तम, प्रौढ़ अभिमान चित वृत्ति छीजै॥
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोषकारी।
प्रेम तांबूल, गत सूल संसय सकल, बिपुलभव बासना-बीज-हारी॥
असुभ-सुभकर्म घृत-पूर्न दसवर्तिका, त्याग पावक, सतोगुन प्रकासं।
भगति बैराग्य-बिग्यान-दीपावली अर्पि नीराजनं जग-निवासं॥
बिमल हृदि-भवन कृत सांति-परजंक सुभ, सयन बिस्राम श्रीराम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥
येहि आरती निरत सनकादि स्रुतिसेषसिवदेवरिषि अखिलमुनितत्व-दरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, बदति इति अमलमति 'दासतुलसी'॥

—विनय०, ४७

श्री रामानन्द के बहुत से पदों को देख कर जो भ्रम कुछ लोगों को हो जाता है, वह अमलमति वाले तुलसीदास की इस आरती से दूर हो सकता है। इसी प्रकार की मानस-पूजा श्री रामानन्द भी करते थे तथा इसी की पुष्टि में उनका प्रबल पक्ष रहा है। हिन्दी की निर्गुणधारा में इसी मानस-पूजा को लेकर सन्त सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। यह सम्प्रदाय सगुण का विरोधी भी था। सूफ़ी सन्तों ने दाशरथी राम का तो घोर विरोध किया क्योंकि उस समय 'इस्लामी' कट्टरता का प्राबल्य था जो मूर्ति के विरोध में सब तरह की मनमानी रीति-नीति की अनुगामिनी रही है। वैष्णवों में भी परमार्थ की दृष्टि से मूर्ति को अधिक महत्व कभी नहीं दिया गया। उसे केवल साधना का एक अंग माना गया था। यह भी सहायक था, अनिवार्य नहीं था जब तक इसकी उपयोगिता थी। इसके लिए उन सन्तों की योग्यता, रुचि और रुझान देश-काल के अनुसार ऐसी ही थी। लोक-कल्याण की दृष्टि से बहुत से सिद्ध साधारण जनता की रुचि को इधर आकृष्ट करने के लिए भी इस साधना में लगे रहते हैं। तुलसीदासजी का मत नीचे के पद से स्पष्ट हो जाता है :—

देखु राम-सेवक, सुनु कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनु-बान-पानि प्रभु, लसे मुनि पट कटि कसे भाथ॥

—विनय०, ८४

इसके अतिरिक्त तुलसीदास तो स्वरूप में ही अपनी बुद्धि को लीन करना चाहते हैं। पूजा-विधान अथवा अर्चना मात्र में उनकी बुद्धि नहीं रहती थी। वे वास्तव में यति थे। यति लोग ही विग्रह के प्रमुख उपासक होते हैं। तुलसीदास के सम्प्रदाय का पता नीचे के पद से स्पष्ट हो जाता है :—

कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग देख इन्दु महँ रहि तजि चंचलताई॥

—विनय०, ६२

राम नाम को सभी प्रकार के दुखों के शमन का साधन मानते हुए महात्मा तुलसी का दृढ़ विश्वास है :—

राम जपु जीह, जानि प्रीति सों प्रतिति मानि,
राम नाम जपे जैहै जिय की जरनि।
राम नाम सों रहनि, राम नाम की कहनि,
कुटिल-कलि-मल-सोक-संकट-हरनि ॥
राम नाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराव कही आपनी करनि।
भव सागर को सेतु, कासी हूँ सुगति हेतु,
जपत सादर सम्भु सहित घरनि ॥
बाल्मीकि व्याध हे अगाध अपराध-निधि,
मरा मरा जपे पूजे मुनि अमरनि।
रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहुँ नाम-बल,
हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि ॥
नाम-महिमा अपार सेस सुक बार-बार,
मति-अनुसार बुध बेद हूँ बरनि।
नाम रति-कामधेनु तुलसी का कामतरु,
राम नाम है विमोह तिमिर तरनि ॥
—विनय०, २४७

यही कारण है कि आत्मविश्वास ही के ऊपर तुलसीदासजी राम से भी इस प्रकार कहते हैं :—

राम, रावरो नाम साधु सुरतरु है।
सुमिरे त्रिविध ताप हरत, पूरत काम
सकल-सुकृत-सरसिज को सरु है ॥
× × × ×
नाम सों न मातुपितु मीत हित बंधु गुरु
साहिब सुधी सुसील-सुधाकरु है।

नाम सों निबाह नेह, दीन को दयालु देहु
'दासतुलसी' को, बलि, बड़ो बरु है॥
—विनय०, २५५

गोस्वामी तुलसीदास जी ने सदा पथिक राम को ही अपना आराध्य देव माना है। बार-बार लोक-मंगल का ही नाम लिया है। इसका कुछ भेद अवश्य है। इन्हीं सभी स्थलों पर 'चरित', 'विप्र' और 'सन्त' की ही सराहना की है। कहीं 'साधु' की प्रशंसा की है तो कहीं 'विप्र' की। 'चरित' का वर्णन तो सभी स्थानों और परिस्थितियों में है। इसी के द्वारा लोक और परलोक दोनों का साधन बतलाया है। उपरोक्त पद के 'साधु सुरतरु' से तुलसीदास के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। साधु-सन्त उसके आधार पर स्वाभिमान के साथ कह सकते हैं कि तुलसीदास जी साधुमत के पोषक थे। लोक-मत के पोषक नहीं थे, ऐसी भी धारणा हो सकती है। किन्तु तुलसीदास की लोक-मंगलाशा प्रशस्त है। उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। यह सत्य है कि सन्तों को उन्होंने विशेष महत्व दिया है। सन्त की रूपरेखा उनकी अपनी अलग ही है। वे लोक से उदासीन आत्मा रागी मन मौजी सन्तों को मान्यता नहीं देते, उनका कहना है कि सन्त वहीं है जो राम के चरित को अपना कर उसके अनुसार आचरण करता हुआ उनके शील, स्वभाव और गुण को अपना कर स्वयं संसार की भलाई में लीन हो जाय। सन्तों को अपना जीवन किस प्रकार बिताना चाहिये, उसे उन्हीं के शब्दों में देखिये:—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा सों संत सुभाव गहौंगो॥
यथालाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मनक्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगतमान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुखसुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसिदास' यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो॥
—विनय०, १७२

इस पद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास जी के सामने ऐसे 'सन्त-सुभाव' की रूपरेखा थी जो सदा दूसरे के ही हित पर ध्यान रखता हो। 'परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो' में सन्त की परिभाषा को कितना बाँधा गया है। कहीं किसी भी रूप में लोक-हित को पल भर के लिए भी नहीं छोड़ा गया है। इससे अधिक क्या प्रमाण माना जा सकता है। इसी प्रकार के सन्त स्वभाव के लिए अनेक स्थलों पर 'मानस' में तुलसीदास जी ने स्वयं श्री रामचन्द्र जी के श्रीमुख से आदेश के रूप में कहलाया है। अनन्त सौन्दर्य, शक्ति और शील से समन्वित रामचरित द्वारा ही गोस्वामी जी को आत्मविश्वास था कि जो मनुष्यता से आपूर्ण आप्त हृदय होगा वह अवश्य आकृष्ट होगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

जिस मनुष्य में हृदय की यह पद्धति होगी उसी में शील और सदाचार के स्थायी संस्कार उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी पद्धति नहीं है। एक ऐसे भक्त के मनमें, जो संसार के दुखों से उद्विग्न है, उच्चतम गौरवशाली मनुष्य के समक्ष जिस प्रकार की भाव-तरंगे उठती हैं, उन्हीं का माला यह 'विनय-पत्रिका' है। उच्च कोटि के महत्व और इन भाव-तरंगों में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है। भक्त में दैन्य, आत्मसमर्पण, आशा, उत्साह, आत्म-ग्लानि, अनुताप, आत्म-निवेदन आदि की गम्भीरता उस महत्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार होती है। महत्व से जितनी निकटता होती जायगी उतनी ही आभा इन भावों में आती जायगी। उसका जितना ही स्पष्ट साक्षात्कार होता जायगा उतना ही अधिक इन भावों का विकास होता जायगा। इस प्रकार ये भाव अनवरत महत्व की ओर बढ़ते ही जायँगे और महत्व भी इन भावों के समादर के लिए बढ़ता आयेगा। अन्त में एक ऐसी भी स्थिति आ जायगी जब लघुत्व का महत्व में लय हो जायगा। भक्ति का मूलतत्व महत्व की अनुभूति ही है। इसकी अनुभूति तभी होती है जब अपने लघुत्व की

अनुभूति का उदय होता है। इस अनुभूति को समझने के लिए भक्त-शिरोमणि तुलसीदास की ये दो पंक्तियाँ ही पर्याप्त हैं :—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?

ज्योंही आराध्य देव की महत्ता सामने आती है, भक्त अपने लघुत्व का अनुभव करने लगता है। वह भगवान् की प्रभुता और अपनी लघुता दोनों के वर्णन में समान आनन्द का अनुभव करता है। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसे अपनी शक्ति-हीनता, दीनता का स्पष्ट चित्र दिखाई देता है। भगवान् की असीम शीलता-पवित्रता के सामने वह अपने को दोष और पाप का पुंज समझता है। ऐसा आभास होने के साथ ही आत्मशुद्धि की भावना का प्रस्फुरण होता है। इस अवस्था में पहुंचा हुआ भक्त अपने में सभी दोष, पाप और कमी का अत्यधिक मात्रा में देखता है तथा निष्कपट भाव से उनका वर्णन करने में ही सन्तोष-लाभ करता है। अभिमान, मोह, मत्सर, छल, प्रपंच सभी दूर हो जाते हैं। इस प्रकार अपने सभी पापों का वर्णन कर देने से उसके मन का भार हलका हो जाता है। इस अवस्था के पद 'विनय-पत्रिका' में अधिक पाये जाते हैं। भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं है। भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है। वह सौंदर्य-शक्ति-शील के असीम जलनिधि के तट पर ही खड़ा होकर लहरें लेने में जीवन का परम फल समझता है। उसे सदैव यही इच्छा रहती है कि प्रभु के सौंदर्य-शक्ति आदि की अनन्तता की मधुर भावना में किसी प्रकार की कमी न आये। अपने जैसे महान् पापी की सुगति को वह इष्टदेव का चमत्कार ही समझता है। यदि संयोगवश उसे सुगति न मिली तो वह पश्चाताप नहीं करेगा, किन्तु यह अवश्य चिन्ता होगी कि प्रभु की असीम शक्ति में बाधा है, इससे उसकी मर्यादा में कमी आ जायगी :—

"नाहिंन नरक परत मोकहँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास 'दासतुलसी' प्रभु नामहु पाप न जारो"॥

'विनय' में कई एक ऐसे भी पद आये हैं जिनमें भक्ति की चरमावस्था को ज्ञानयोग की चरमावस्था के समकक्ष कहा गया है। जैसे :—

रघुपति-भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ, सोइ सुलभ सदा सुखकारी ।
सफरी सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी ॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै ।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै ॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी ।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी ॥
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं ।
'तुलसिदास' यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं ॥

—विनय०, १६७

रामभक्ति करने में बड़ी कठिनाई है। कहने में तो सुगम है, किन्तु करना बहुत ही अपार है। जो जिस कला में कुशल है उसके लिए वही सुलभ और सदा सुखकर है। छोटी मछली गंगा की धारा के सामने चढ़ती-तैरती चली जाती है और बड़े-बड़े प्रमत्त हाथी बह जाते हैं। बालू में मिले हुए शर्करा-कण को बलपूर्वक अलग नहीं किया जा सकता है, किन्तु उसके रस को जानने वाली चींटी बिना प्रयास ही एक-एक कण को पा जाती है। ठीक इसी प्रकार योगी सभी दृश्यों को उदरस्थ कर निद्रा छोड़ सोते हैं। वे ही भेदात्मक ज्ञान को विशेष रूप से छोड़ कर वैष्णवपद के परमानन्द का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। उस स्थान पर न तो देशकाल है और न शोक, मोह, भय, हर्ष तथा दिन-रात ही है। तुलसीदास जी का कहना है कि बिना इस स्थिति की प्राप्ति के भ्रम का निवारण नहीं होता है।

इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते-करते भक्त ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने साथ समस्त संसार को एक अपरिच्छिन्न सत्ता में लीन होता हुआ देखने लगता है तथा दृश्य-भेदों का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं रह जाता है। ऐसी अवस्था की बल तर्क या युक्ति द्वारा सूचना मात्र दी जा सकती है, अनुभव नहीं कराया

जा सकता है। वाक् ज्ञान मात्र कराया जा सकता है। लेकिन भक्ति अनुभव करा सकती है। इसी अनुभूति-मार्ग में अग्रसर होने के ही उज्ज्वल दृष्टान्त कहीं-कहीं परोपकार और आत्मत्याग के रूप में दिखाई देते हैं। इस भक्ति-मार्ग द्वारा अधिक दूर तक तो लोक-हित की व्यवस्था होती है, परन्तु उसके आगे यह निस्संग साधक को सब भेदों से परे ले जाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' भक्ति-रस के अनेक स्वादों से भरी हुई है। हिन्दी साहित्य में अपने विषय की यह अनूठी रचना है। इसकी भक्ति-पद्धति श्रेष्ठतम एवं सर्वमान्य है। शीर्षस्थ सभी विद्वान् एवं विचारक इसे ही प्रथम स्थान देते हैं। इसके पद-पद में लोक-कल्याणकारी भावना सन्निहित है। इस रचना के आधार पर तुलसी समाज के प्रतिनिधि के रूप में आते हैं। उस समय में ही इनकी सर्वत्र प्रतिष्ठा थी।

विनय-पत्रिका के आधार
पर
तुलसीदास का जन्मस्थान

गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि के सम्बन्ध में अबतक जि
सन्धान हुए हैं, उन सब का दृष्टिकोण ही कुछ उल्टा था। लोग वा
को लेकर दौड़ते रहे हैं। उनका प्रमाण भी निराधर था। समकालीन
एवं कवियों की कृतियों के आधार पर जो खोज की गई, वह अधिक
अटकलपच्चू रही है। तथ्य को सर्वत्र छोड़ दिया गया है। विदेश
के मत में देश-काल और समाज की अनुभव-हीनता का आभास मि
सत्य तो यह है कि सभी लोग महात्मा तुलसी की कृतियों के अन्त
ओर से अधिक उदासीन रहे हैं। इधर-उधर के उद्धरणों पर जो व
उड़ान हुई है, वह एकाङ्गी होने से सन्तोषप्रद न रही।

अस्तु, हमें नव चेतना एवं स्फूर्ति के साथ अन्तर्साक्ष्यों की श
चाहिए और सूक्ष्मतम दृष्टि द्वारा अन्वीक्षण कर वस्तुस्थिति का परिज्ञा
उचित है। इस विषय में पूज्य श्रीचन्द्रबली पाण्डेय का प्रयास र
उन्होंने भारतीय सभ्यता-संस्कृति के आधार पर अपना एक नवीनतम
निर्धारित किया।

यों तो तुलसीदास जी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में उनके विभि
में अनेकशः अन्तर्साक्ष्य मिलते हैं, जिनके आधार पर इस विषय
नया मोड़ आया है। आज उन्हीं अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर तुलसी
भूमि अयोध्या (साकेत-धाम) में सिद्ध हो रही है। यही नहीं बाबर
जो राम का जन्मस्थान है, ठीक उसके सामने ही उनके घर का होना
हो रहा है। जन्मोत्सव के अवसर पर 'बधावनो बाजे' के कारण इन्हें म
से भी अलग होना पड़ा। इनका जीवन उसी समय से संकट में पड़

ज्योतिषी लोगों ने इन्हें बहुत बड़ा महात्मा सिद्ध किया और प्रचार हो गया कि आगे चलकर इस्लामी साम्राज्य के लिए ये अहितकर सिद्ध होंगे। अब क्या था, शाही गुमाश्ते इनके तथा इनके परिवार के पीछे पड़ गये। इन्हें माता-पिता के स्नेह से सदा के लिए वंचित होना पड़ा। बड़े-बड़े शक्तिशाली हिन्दुओं ने भी अपने यहाँ शरण देने से अस्वीकार कर दिया। अन्त में दर-दर की ठोकर खाने के बाद जब कहीं ठिकाना नहीं मिला तब अयोध्या के ही वैरागियों ने इन्हें आश्वासन दिया और ये हनुमान-गढ़ी पर रहने लगे। राम को सब कुछ अर्पित कर दिया। हनुमान जी को अपना सबसे घनिष्ठ हितैषी एवं पालक मानने लगे। उन्हीं के द्वारा संकट-काल में सर्वत्र इनकी रक्षा हुई। हनुमान की शक्ति पर सदा विश्वास रखते थे। शाही बन्दी-गृह से भी उन्हीं की कृपा से इनकी रक्षा हुई और तब से प्रतिष्ठा दूनी बढ़ गई।

जन्म-स्थान के सम्बन्ध में 'विनय' के इस साक्ष्य पर विचार करें :—

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति बिषफल फली॥

—विनय, १३५

इस पद से उत्तरी भारत और सुरसरि-तीर के समीप अच्छी संगति में अपना अस्तित्व मानते हैं। इसका निर्णय कवितावली के निम्न पद से भलीभाँति हो जाता है—

चेरो रामराय को सुजस सुनि तेरो हर,
पाँय तर आय रह्यो सुरसरि-तीर हौं।
जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं,
मालूम है तोहिं मरबेई को रहत हौं॥

—कवितावली, उत्तर०, १६६, १६७

इसमें सन्देह नहीं कि तुलसीदास जी अपनी जन्मभूमि किसी स्थान ही से काशी-वास के लिए आए थे। 'अनन्य' ने स्पष्ट कर दिया है कि 'तुलसी' का जन्मस्थान अवध में था—

'कोसल देस उजागर कीनो।
सबहिन को अद्भुत रस दीनो॥

स्वयं तुलसीदास जी बिना किसी संकोच के अपना अधिकार समझकर कह बैठे हैं—

राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि,
'तुलसी' तिहारो घर जायउ है घर को।

इस प्रकार राम की और अपनी जन्मभूमि को एक ही स्थान पर मानते हुए अधिक अनुग्रह की आशा रखते हैं तथा लोक-रीति से एक गाँव-घर के सम्बन्ध से राम के सहज पात्र बनना चाहते हैं।

'विनय' में जन्म-दशा

'विनय-पत्रिका' में तुलसी की जन्म-दशा के विषय में जो साक्ष्य मिलता है, वह विचारणीय है। नीचे के पद पर विचार करें—

नाम राम, रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाइ कहौं टेरे॥
जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिन बिधि हूँ सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ से कोउ कोउ कहत रामहिं को, सो प्रसंग केहि केरे?॥
फिर्‌यौ ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहिं हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे॥
साधत साधु लोक परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे।
'तुलसी' के अवलंब नाम को एक गाँठि कई फेरे॥
—विनय, २२७

हे राम जी, आपका नाम ही मेरी भलाई कर सकता है, यह बात मैं स्वार्थ और परमार्थ के संगी-साथियों से पुकार-पुकार कर कहता हूँ। माता-पिता

ने तो मुझे उत्पन्न करके ही छोड़ दिया था, ब्रह्मा ने भी मुझे कुछ अभागा एवं बेढंगा सा बनाया था, इस पर भी कोई कोई मुझे कहते हैं कि मैं 'राम' का हूँ। इसके कहने का कारण भी नहीं ज्ञात है कि क्यों कहते हैं? बिना राम-नाम के मैं निराधार होकर पेट भरने के लिए द्वार-द्वार लोभी की भाँति ललचाता हुआ भटका करता था, दुःख भी मुझे देखकर दुःखी हो जाता था। मेरी दशा बहुत ही हीन और मलीन थी। किन्तु अब राम जी के प्रभाव से मेरा सर्वत्र उसी प्रकार समादर है जैसे बबूल और बेहरे के वृक्ष से आम के सुन्दर-मधुर फल की प्राप्ति हो जाय। जो लोग क्रूर बबूल और बहेरे की भाँति दुःखदायी थे उन्हीं का व्यवहार आज सुखद और शीतल है। साधु और मुनि लोग लोक-परलोक की साधना बड़े यत्न एवं मनन के साथ करते हैं किन्तु तुलसीदास के लिए 'राम-नाम' का ही एक ऐसा सहारा है जो एक ही गाँठ में कई फेरे के समान है।

वास्तविकता के अधिक निकट पहुँचने के लिए एक पद और दिया जा रहा है, उससे उनकी जीवन-दशा का चित्रण स्पष्ट है—

द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम-कियो न संभाषन काहूँ॥
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिता हूँ।
काहेको रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहूँ॥
दुखित देखि सन्तन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न, सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ॥
तुलसी तिहारो भए, भयो सुखी, प्रीति-प्रतीति बिना हूँ।
नामको महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अबतें सकुचाहुँ सिहाहूँ॥
—विनय, २७५

हे नाथ, मैंने अपनी दीनता का निवेदन प्रत्येक द्वार पर दाँत दिखाते हुए तथा पैर पर गिर करके किया। संसार में ऐसे-ऐसे दयावान् हैं जो दशों दिशाओं के दुखों को क्षमा कर देने में समर्थ हैं किन्तु मुझसे तो किसी ने

बात तक न की। मेरी आपदा को वे लोग दूर कर सकते थे, किन्तु मैं उनका क्या दोष दूँ जब मेरे माता-पिता ने ही मुझे कुटिल समझ कर छोड़ दिया। कौन जाने यह मेरे ही अभाग्य का फल हो कि लोग मेरी छाया तक छूने से संकोच करते हैं। इस प्रकार शोकाकुल देखकर सन्तों ने मुझे आश्वासन दिया और कहा कि चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने कहा कि हमसे भी पतित नीच पशुओं तक को भगवान ने निराश नहीं किया है और शरण में रखकर अभयदान दिया है। साथ ही यह उपदेश दिया कि रघुवर श्रीरामचन्द्र की शरण में जाने से निर्वाह हो सकता है। इस प्रकार यह 'तुलसी' आपका होने से सुखी हो गया। इसकी आपने कोई परीक्षा भी न ली कि इसमें प्रीति-प्रतीति कैसी है? हे नाथ, केवल नाम की महिमा और आपके शील द्वारा मेरा भला हुआ। उसे देखकर अब मैं लज्जित होता हूँ तथा मेरे मन में अपना भला देखकर लालच पैदा होती है। अपने भाग्य की मैं सराहना करता हूँ।

'विनय' में एक पद इस प्रकार का भी है:—

तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम बिनु रावरे लोकहुँ परलोकहुँ कोउ न कहूँ हितु मेरो॥
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो॥

विनय, २७२

हे रामजी, आप मेरे ऊपर दया का भाव बनाये रहें। लोक-परलोक में आप के अतिरिक्त मेरा कोई हित करने वाला नहीं है। मुझे सब तरह से अयोग्य, आलसी, नीच और मूर्ख समझकर स्वार्थ के साथियों ने छोड़ दिया तथा भूलकर भी कभी खोज नहीं लिया।

कुछ भी हो, जीवन के आरम्भ में माता-पिता से अलग होने के कारण तुलसीदास जी अनाथ की भाँति भीषण दुखों तथा घोरतम अपमान का सामना करते हुए इधर-उधर ठोकर खाते रहे। इन्हीं दिनों में उन्हें सन्तों का साथ मिला तथा उन सन्तों ने इनकी प्रवृत्ति को रामोन्मुख कर दिया। इसके बाद उनके

जीवन-धारा ही बदल गई और बदलती रही यहाँ तक कि 'रामचरित-मानस' जैसे महाकाव्य के बाद 'विनय-पत्रिका' के समान अभूत पूर्व अनन्तकाल तक अप्रतिम रहने वाले ग्रन्थ का प्रणयन हुआ।

वास्तव में 'विनय' के अन्तर्गत सन्निहित तुलसी की जीवन-दशा का यह मार्मिक चित्रण है। उनके माता-पिता उन्हें छोड़ देने के लिए विवश थे। यही कारण है कि विषम परिस्थिति को समझकर वे उनका कुछ भी दोष नहीं देना चाहते हैं। माता-पिता की बात के पूर्व उन्होंने, 'हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम कियो न संभाषन काहू' की बात कही है। यह प्रसङ्ग अधिक विचारणीय है। इसमें तुलसी के अन्तर की पीड़ा व्याप्त है। यहाँ इतिहास भी मौन है। उसमें तुलसी के लिए स्थान नहीं था। यह एक गहरा प्रश्न है। क्या मुग़लकालीन इतिहास इस महान् सन्त को नहीं जानता? क्या इनके 'बन्दीगृह' की वार्ता से वह अनभिज्ञ है? अवश्य जानता है। किन्तु कुछ लिख न सका। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि तुलसीदास जी से जन्मजात विरोध था। कोई कुछ भी कहे किन्तु यह बात निर्विवाद है कि उस समय के इतिहास में तुलसीदास के सम्बन्ध में कुछ भी न लिखने का कोई गूढ़ कारण है। यह तो राम की कृपा थी जो उन्होंने अपना दास समझ कर इन्हें अपनाया।

यही नहीं :—

> त्रस्त मानवता का करना उद्धार था-
> इनकी उस वाणी से गूँजती जो आज तक-
> 'रामचरित-मानस' में, मानस में मानव के,
> विश्व की महानतम विभूतियों में गणना है
> 'तुलसी' की।

निष्कर्ष यह है कि जिस समय तुलसीदास जी का जन्म हुआ उस समय राम-भक्तों में यह जान कर कि लोक का कल्याण करने वाले महात्मा ने अवतार लिया, आनन्द की लहरी उठी और 'बधावनो बजायो' की धूम हुई। बस उधर राज-दण्ड का आतंक भी प्रबल-प्रचण्ड हो उठा। मस्जिद, वह भी 'बाबरी' के

सामने हिन्दू बाजा और मुग़ल काल की प्रौढ़ावस्था में, शासन कब सहन कर सकता था। तुलसीदास के माता-पिता भय से काँप उठे। उन्हें भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगा। निदान बिना किसी तर्क-वितर्क के बच्चे ही को कहीं छोड़ देना उचित समझा और हुआ भी वही। तुलसी जन्म-स्थान से दूर हुए और माता-पिता भी कलि के कराल दुख-जाल से तलवार के घाट उतर कर पार हुए। पुनः जीवन में तुलसी की भेंट उनसे न हो सकी। इसे वे अपना दुर्भाग्य ही समझते रहे। यही कारण था कि शक्तिशाली लोग भी तुलसी की सहायता करने से डरते थे। उन्हें लोग मुगल-शासन का विरोधी समझते थे। दुख दूर करने को कौन कहे, बात तक करने में लोग भय खाते थे।

मेरी धारणा तो यह है कि राम की जन्म-भूमि ही तुलसी की जन्म-भूमि है। 'बधावनों बजायो' काण्ड भी 'बाबरी-मस्जिद' के सामने बाजा बजाने की घटना है। तुलसी के जीवन में भीषण आपदा का बीजारोपण यहीं से हुआ। यह सब जान समझ कर ही वे किसीको दोष देना नहीं चाहते थे। इसे वे अपने भाग्य का ही फेर समझते रहे। सन्त-समागम से राम की शरण में जाते हैं और उनकी कृपा से जीवन में एक नवीन चेतना का संचार होता है। आगे चल कर वे इतना सबल हो जाते हैं कि राजलोक की भी चिन्ता दूर हो जाती है, तुलसी राम के हो जाते हैं। यहीं पर 'विनय' की परिसमाप्ति भी है —

मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है।
कलिकालहुँ नाथ ! नाम सों प्रतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है सुधि मैंहूँ लही है।'
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है॥

—विनय-पत्रिका, २७९

इस प्रकार तुलसी को राम ने स्वीकार कर लिया और उनकी सब प्रकार से बन गई। तुलसी राम के थे और राम के ही ग्राम के थे। वे स्वयं कहते हैं —

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं ।
जानकी-जीवन ! जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं ।
तीनि लोक तिहुँकाल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं ।
तुम्ह सों कपट करि कलप कलप कृमि ह्वै हौं नरक घोर को हौं ॥
कहा भयो जो मन मिलि कलि कालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं ।
तुलसिदास सीतल नित यहि बलि बड़े ठेकाने ठौर को हौं ॥

विनय, २२६

इसके आधार पर 'ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं' से आत्मीयता तथा पड़ोस में आश्रित की भाँति का होना सिद्ध होता है। 'सुहृद रावरे जोर को हौं' से अधिक निकटता प्रकट होती है। अन्त में 'बड़े ठेकाने ठौर को हौं' से 'राम-कोट' ही जन्म-स्थान है, सब भ्रम दूर कर देता है। 'विनय' की भजन संख्या २१० के—

तौ हौं बार-बार प्रभुहिं पुकारि कै खिझावतो न,
जो पै मोको होतो कहुँ ठाकुर ठहरु ।
आलसी अभागे मोंसे तैं कृपालु पाले-पोसे,
राजा मेरे राजाराम, अवध सहरु ॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी दास जी की जन्म-भूमि अयोध्या ही थी और राम को ही वे राजा मानते थे।

'विनय-पत्रिका' में नाम के सम्बन्ध में एक साक्ष्य है जिसके आधार पर तुलसीदास का एक नाम 'राम बोला' भी था। देखिये—

राम को गुलाम, नाम राम बोला राख्यो राम ।
काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं ॥

—विनय, ७६

वस्तुस्थिति भी ऐसी है कि प्रायः अयोध्या के वैरागी इस प्रकार के अनाथ, दीन-हीन बालकों का नाम 'राम बोला' जैसा ही रख कर अपने यहाँ आश्रय दिया करते हैं। तुलसीदास के सम्बन्ध में भी यह बात सम्भव हो सकती है।

———

विनय-पत्रिका के आधार
पर
तुलसी की जीवन-यात्रा

गोस्वामी तुलसीदास की जीवन-गाथा प्रायः सभी कुछ न कुछ जानते हैं। उनकी जीवन यात्रा किस प्रकार समाप्त हुई तथा 'विनय-पत्रिका' में उसके कितने साक्ष्य हैं, एक-एक करके समझ लेना परमावश्यक है। 'विनय' में तुलसीदास जी ने अपने राम से सब कुछ निवेदन के रूप में कह दिया है। वास्तव में यह पत्रिका उनकी जीवन-पत्रिका का भी काम देती है यहाँ आवश्यक है, महाकवि की वाणी के मर्म को ठीक-ठीक समझना। इसके लिए सूक्ष्मानुभूति अधिक सहायक सिद्ध हो सकती है। नीचे एक पद दिया जा रहा है, जिसमें उन्होंने अपने विषय में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—

राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी-लूगा नीके राखै आगे हूँ की वेद भाखै,
भलौ ह्वै है तेरो, ताते आनद लहत हौं॥

× × × ×

बूझ्यौ ज्यौं ही, कह्यो मैंहूँ, चेरो ह्वै हौं रावरो जू,
मेरो काऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं।

× × ×

तुलसी अकाज काज राम हीं के रीझे-खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं॥

—विनय, ७६

तुलसीदास जी कहते हैं कि मैं श्रीरामजी का दास हूँ। राम की कृपा से मेरा नाम राम बोला रक्खा गया गया है। मेरा काम कभी-कभी रामनाम कहना है, इसी से मुझे भोजन की प्राप्ति होती है। यह तो इस लोक की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति हुई किन्तु परलोक में भी मेरा भला होगा, इसके लिए वेद का प्रमाण है। यही कारण है कि मैं सदा आनन्द-विभोर रहता हूँ। मैं असह्य दुखों को जड़ कर्मों की दृढ़ बेड़ी में बँधे रहने के कारण सह रहा हूँ। दुखी अनाथों के नाथ श्रीराम जी ने उन कर्मों में बँधकर दुःख से जलता हुआ देखकर मुझे छुड़ा लिया। इसके बाद जब उन्होंने मेरा परिचय पूछा तब मैंने कहा कि हे नाथ, मैं हूँ (तुलसी) आपका दास बनूँगा। मेरा संसार में कहीं भी कोई नहीं है। मैं आपके श्री चरणों में विनत हूँ। इतना कहने के बाद ही गुरु स्वरूप श्री रामचन्द्र जी ने हमारी पीठ ठोंक दी और बाँह पकड़कर अपना लिया। उसी समय से वैष्णवों को सुख देने वाले इस वैष्णव बाने मे इधर-उधर विहार कर रहा हूँ। मुझे इस रूप में देख कर लोग यह कहने लगे कि यह तो वर्णाश्रम धर्म को त्याग कर नीच हो गया। किन्तु इन सब बातों को सुनकर मुझे न तो कभी चिन्ता ही होती है और न मैं किसी प्रकार का संकोच ही करता हूँ। इसका मुख्य कारण यह है कि न तो मुझे किसी के साथ ब्याहबरी ही करनी है और न मुझे जाति-पाँति ही चाहिए। मेरा (तुलसी का) तो ऐसा विश्वास है कि राम ही के प्रसन्न-अप्रसन्न होने में लाभ-हानि है। यही कारण है कि उन्हीं के प्रेम की प्रतीति में मैं प्रसन्न रहता हूँ।

इसमें विशेषता यह है कि तुलसीदास जी ने राम और गुरु को एक माना है, इसीलिए कहीं 'राम' और कहीं 'गुरु' का प्रयोग किया है। आगे के पद से उनका परिचय कुछ और मिलता है :—

जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपा-निधान,
एतो मान ढीठ हौं उलटि देत खोरि हौं।
करत जतन जासों जोरिबे को जोगी जन,
तासों क्यों हूँ जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं॥

× × ×

राखिये नीके सुधारि, नीच को डारिये मारि,
दुहूँ ओर की विचारि अब न निहोरिहौं।
तुलसी कही है साँची रेख बार-बार खाँची
ढील किए नाम-महिमा की नाव बोरिहौं॥
—विनय, १५८

हे कृपानिधान, एक बार आपने मुझे अपनाया था और मैं आपके महत्त्व को भलीभाँति समझ गया था फिर भी माया-जाल में फँसकर भूल गया। इस प्रकार की धृष्टता करने पर भी उलटे आप ही का दोष देता हूँ। जिससे प्रीति जोड़ने के लिए योगी लोग आजीवन यत्न किया करते हैं उससे किसी प्रकार एक बार थोड़ा प्रेम हो जाने पर भी मैं ऐसा अभागा हूँ कि उस प्रेम के धागे को तोडकर बैठ गया और भूल-सा गया। यहीं नहीं, यहाँ तक भूल गया कि कभी रंचमात्र भी नहीं याद करता था। मेरे समान दोषी चौदहों भुवन में कोई नहीं है। मैंने पूर्ण रूप से विचार कर देख लिया है कि संसार में मैं सबसे बड़ा अपराधी हूँ। मेरी समता अपराध में कोई नहीं कर सकता है। मैं गाड़ी के साथ लगे हुए उस कुत्ते की भाँति हूँ जो कभी आगे, कभी पीछे और कभी बराबरी में किसी विशेष कारण से चलता रहता है। हे नाथ, यह माया और मोह का ही प्रताप है कि मैं कभी आपको छोड़ देता हूँ तथा कभी पुनः भजने लगता हूँ। मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आपसे द्रोह करने वाला मेरे बराबर कोई नहीं है। इसलिए मेरे जैसे झूठे, लोभी और प्रपंची (ठग) को अपने द्वार से हटा दीजिए नहीं तो अमृत के समान पवित्र आपके यशरूपी जल को मैं शूकरी की भाँति अपवित्र एवं मटमैला कर डालूँगा। हे नाथ, यदि मुझे जीवित रखना हो तो मेरा सुधार कीजिए अन्यथा शीघ्र ही मार डालिये। मैं बड़ा ही नीच हूँ। दोनों बातों का विचार कर लीजिए, अब मैं आपका निहोरा नहीं करूँगा। तुलसीदास जी कहते हैं कि मैं बार-बार रेखा खींचकर सत्य कहता हूँ—यदि आप उपरोक्त दोनों बातों को समझकर शीघ्र निर्णय न देंगे तो मैं आपके नाम की महिमा रूपी नौका को डुबो दूँगा और संसार में

सर्वत्र यह प्रचार करूँगा कि रामनाम जपना मिथ्या है, उसका कोई महत्व नहीं है।

तुलसी के 'साँची' से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कुछ अन्तर्वेदना है, जिसका पश्चाताप है—

'तासों क्यों हूँ जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं।'

राम की महिमा को एक बार समझ कर तथा उनकी शरण में जाकर पुनः उनसे विमुख हो जाना ही तुलसीदास अपना सबसे बड़ा पाप समझते हैं। इसमें किसी प्रकार के परिणय का भेद अवश्य छिपा है जो प्रणय के रूप में भी हो सकता है। धर्म-विवाह से कहीं अधिक काम-विवाह ही हो सकता है। 'कवितावली' में एक स्थान पर आए हुए निम्नलिखित उद्धरण से उसकी कुछ पुष्टि मिलती है—

'पर्‌यो लोक-रीति में पुनीत प्रीति राम राय,
मोह-बस बैठो तोरि तरक तराक हौं।'

इसका रहस्य किसी मोहिनी देवी का उनके जीवन-क्षेत्र में आना ही है। आगे इसी पद में आया है—

'तुलसी गोसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।'

इस प्रकार राम से विमुख होना कोई विशेष कारण प्रकट करता है। 'विनय-पत्रिका' की रचना शिवपुरी काशी के गोपाल-मन्दिर में अवस्थित एक कोठरी में हुई है जो आज भी विद्यमान् है। इससे यह सिद्ध होता है कि इसके रचना-काल के पूर्व वे काशी में थे और यहाँ उनके जीवन में वासना का प्रवेश अवश्य हुआ। पुरातन प्रीति के प्रताप से तुलसीदास जी का विवाह-संस्कार भी सम्पादित हो गया था। इसका आरम्भ कहाँ से हुआ? कुछ अनिश्चित सा है। फिर भी इसका समाधान है—

ज्यों-ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों-त्यों दूरि पर्‌यो हौं।
तुम चहुँ जुग रस एक राम हौं हूँ रावरो, जदपि अघ अवगुननि भर्‌यो हौं॥

बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छर्यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृपतें भिखारि करि, सुमति ते कुमति कर्यो हौं॥
अगनित गिरि कानन फिर्यो, बिनु आगि जर्यो हौं।
चित्रकूट गए हौं लखी कलि की कुचाल सब अब अपडरनि डर्यो हौं॥
माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्यो हौं।
चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभुसों गुदरि निबर्यो हौं॥
—विनय, २६६

इस पद में प्रधान भेद क्या है, इसके आधार पर तुलसीदास जी की आत्मकथा का आभास किस रूप में मिलता है, उसे नीचे की पंक्ति से देखिए—

'बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छर्यो हौं।'

इसकी तुलना 'हनुमान बाहुक' की इस पंक्ति से करना उचित है—

'नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो।'

इसके अतिरिक्त चित्रकूट से सम्बन्धित तुलसीदास जी का एक दूसरा पद यह भी है—

मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो।
चारिहूँ बिलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ,
तेरो तिहुँकाल कहु को है हितु हरि सों॥
× × ×
जीव को जीवन-प्रान, प्रान को परम हित
प्रीतम पुनीत कृत नीचन निदरि सो।
तुलसी, तोको कृपालु जो कियो कोसलपालु
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो॥
—विनय, २६४

'चित्रकूट को चरित्र' का पता मिलना सरल तो है नहीं, किन्तु खोज करने वालों के लिए किसी बात की कमी नहीं रही है। इसके रहस्य के सम्बन्ध में श्री वियोगी हरि जी का यह मत है—

एक दिन चित्रकूट में गोस्वामी तुलसीदास जी को घोड़ों पर चढ़े हुए दो अपूर्व सुन्दर राजकुमार दिखाई दिए। वे एक मृग के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए जा रहे थे। तुलसीदास ध्यानावस्थित से थे। ध्यान में विघ्न पड़ने की आशंका से उन्होंने अपने नेत्रों को बन्द करके भूमि की ओर कर लिया। कुछ देर के बाद श्री हनुमान जी ने दर्शन दिया और पूँछा :—श्रीराम-लक्ष्मण का दिव्य दर्शन किया कि नहीं? जो दो राजकुमार अभी घोड़े पर चढ़े हुए इधर से गए हैं, वे ही राम और लक्ष्मण थे। इतना सुनकर गोस्वामी जी पश्चाताप करने लगे। उन्होंने कहा—

लोचन रहे बैरी होय।
जान बुझ अकाज कीनो, गए भू में गोय॥
अविगत जु तेरी गति न जानी, रह्यो जागत सोय।
सबै छबि की अवधि में हैं निकसि गे ढिग होय॥
करम हीन मैं पाय हीरा, दियो पल में खोय।
'दासतुलसी' राम बिछुरे, कहो कैसी होय॥

इस पद में इसी प्रत्यक्ष दर्शन की ओर गोस्वामी तुलसी दास जी का सङ्केत है। इस प्रत्यक्ष-दर्शन के सम्बन्ध में और भी दन्त कथायें तथा लिखित मत हैं। यह हो सकता है कि उनमें भिन्नता हो। देखिए—

चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन को भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसें तिलक देत रघुवीर॥

एक दिन तुलसीदास जी चित्रकूट में रामघाट पर बैठे हुए राम के ध्यान में निमग्न थे। इतने में एक सुन्दर पुरुष ने आकर कहा—बाबा, चन्दन दो। तुलसीदास चन्दन घिसने लगे। उसी समय उनको सूचना देने के लिए हनुमान जी ने शुक का रूप धारण कर आकाश से उड़ते हुए उपरोक्त दोहा पढ़ा और तुलसीदास सुनते ही रामचन्द्र जी की शोभा देखने लगे। देखते-देखते आनन्द-मग्न होकर मूर्छित हो गए और भक्त-वत्सल श्री रामजी चन्दन लगाकर अन्तर्धान हो गये। कुछ भी हो इसमें तथ्य अवश्य है।

तुलसीदास जी का पालन-पोषण अयोध्या में हनुमान-गढ़ी पर हुआ था तथा बालपन उन्हीं की कृपा से बीता। इसके लिए वे कृतज्ञ हैं। जीवन के विभिन्न सङ्कटापन्न अवसरों पर श्री हनुमान जी से बराबर उचित सहायता मिलती रही है। 'विनय' में इसे परिलक्षित किया गया है—

जयति अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत-विधु बिबुध कुल-कैरवानंदकारी।
केसरी चारुलोचन चकोरक सुखद, लोकगन-शोक-संताप हारी॥

× × ×

जयति दसकंठ-घटकरन-बारिदनाद-कदन-कारन, कालिनेमि-हंता।
अघटघटना - सुघट विघटन बिकट, भूमि-पाताल-जल-गगन - गंता॥
जयति बिस्व-बिख्यात बानैत-बिरुदावली, बिदुष बरनत बेद बिमल बानी।
दासतुलसी-त्रास-समन सीतारमन, संग सोभित राम राजधानी॥

—विनय, २५

इस पद से यह सिद्ध है कि राम की राजधानी अयोध्या में ही श्रीहनुमान जी की गढ़ी उस समय थी और वहाँ के मठाधीश महोदय की अनुकम्पा से तुलसीदास जी को शरण मिली। उन्हीं के दयादाक्षिण्य से इनका पालन-पोषण बाल्य-काल में हुआ। आगे चलकर और स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके आधार पर तुलसीदास जी की जन्म-भूमि अयोध्याधाम में सिद्ध होती है—

जयति सिंहासनासीन सीतारमन निरखि निर्भर हरष नृत्यकारी।
राम संभ्राज-सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर-बिहारी॥

इस प्रकार 'तुलसीमानस रामपुर बिहारी' के आधार पर हनुमान की सेवा में तुलसीदास जी के जीवन का विकास मानना युक्ति-संगत है। इसलिए इसका श्रेय राम की जन्म-भूमि अयोध्या ही को देना उचित है। तुलसी का जीवन श्री हनुमान जी की कृपा से किस प्रकार आनन्दमय था, उसका अभास 'विनय' के निम्न पद से मिलता है—

समरथ सुवन समीर के रघुवीर पियारे।
मोपर कीबी तोहि जो करि लेहि भियारे॥

तेरी महिमा तें चलै चिंचिनी-चियारे।
अँधियारो मेरी बार क्यों त्रिभुवन-उजियारे॥
केहि करनी जानि कै सन्मान कियारे।
केहि अघ औगुन आपनो कर डार दियारे॥
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लियारे।
तेरे बल, बलि आजु लौं जग जागि जियारे॥

× × ×

तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सियारे।
तहँ तुलसी के कौन को काको तकियारे॥

—विनय, ९३३

तुलसीदासजी का जीवन हनुमान जी के आश्रय में रहने से बन गया। उनका शरीर उनके प्रसाद से पुष्ट हो गया। लेकिन उन्होंने कहीं किसी राम-मंदिर का उल्लेख नहीं किया है। उनका एक पद इसके लिए अधिक विचारणीय है :—

जानकी नाथ रघुनाथ रागादि तम
तरनि तारुन्य तनु तेजधामं।
सच्चिदानंद आनंदकंदाकरं
बिस्व-बिस्राम रामाभिरामं॥

× × ×

अनघ अविछिन्न सर्वग्य सर्वेस खलु सवतोभद्र दाताऽसमाकं।
प्रनतजन-खेद-बिच्छेद-बिद्या-निपुन नौमि श्री राम सौमित्रि साकं॥
जुगल पद पद्म सुख-सद्म पद्मालयं चिन्ह कुलिसादि सोभातिभारी।
हनुमंत-हृदि विमल-कृत परममंदिर सदा 'दासतुलसी' सरन सोकहारी॥

—विनय, ५१

इस प्रकार तुलसी दास जी ने 'परम मंदिर' का उल्लेख तो किया, लेकिन प्रत्यक्ष 'मंदिर' का पता नहीं दिया। उस समय वास्तव में मुग़लों की कृपा से

राम-मंदिर था ही नहीं। काशी में आने पर उन्हें 'विन्दु-माधव' के मंदिर का प्रत्यक्ष दर्शन होता है—

सकल-सुख-कंद, आनंदबन पुन्य कृत,
बिन्दुमाधव द्वन्द्व बिपति हारी।
यस्यांघ्रि पाथोज अज संभु सनकादि,
सुक सेष मुनिवृन्द अलि निलयकारी॥

× × ×

अखिल-मंगल-भवन निबिड़ संसय-समन, दमन ब्रज नाटवी कष्टहर्त्ता।
बिस्वधृत, बिस्वहित, अजित, गोतीत, सिव, बिस्वपालन-हरन, बिस्वकर्त्ता॥
ग्यान-विज्ञान-वैराग्य-ऐस्वर्य-निधि, सिद्धि अनिमादि दे भूरिदानम्।
ग्रसित-भवव्याल अतित्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारि-यानम्॥

—विनय, ६१

इससे तुलसीदास के मन को सन्तोष होता है। वे अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं। वे कहते हैं:—हे विन्दुमाधव, आप सब प्रकार के सुखों को देने वाले तथा रागद्वेष से उत्पन्न दुखों को दूर करने वाले हैं। आपके कमलवत् चरणों में ब्रह्मा, शिव और सनक-सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, शेष एवं मुनि रूपी भ्रमर सदा निवास करते हैं। आप स्वच्छ नीलममणि की भाँति श्याम, सौ करोड़ कामदेव की शोभा से भी शोभायमान हैं। आप जो पीताम्बर धारण किये हैं, उसकी शोभा नीले मेघ के भीतर प्रकाशमाना विद्युत की भाँति है। लाल रंग के कमल से सुन्दर नेत्रों की चितवनि बड़ी ही आकर्षक है। आप भक्तों को सुख देने वाले तथा करुणा के घर हैं। आप काल रूप हाथी के लिए सिंह, राक्षसों के बन को जलाने के लिए अग्नि, मोह-निशा को नाश करने के लिए सूर्य के समान हैं। आप के हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म है। जैसे कमल के ऊपर राजहंस की शोभा होती है ठीक वैसे ही शंख की शोभा आपके कमलवत् हाथों के ऊपर है। हे विन्दुमाधव, सौभाग्य की मूर्ति तथा त्रैलोक्य की शोभा श्री लक्ष्मी जी आपके वामभाग में शोभा पा रही हैं। आप गंगा जी के किनारे सुन्दर मंदिर में निवास किया करते हैं। जो लोग आपका शुभ दर्शन करते

वे बड़े ही भाग्यवान् हैं। सारांश यह है कि तुलसी ने प्रत्यक्ष-मंदिर का दर्शन काशी ही में किया है। गंगा का ही किनारा है। 'सरयू-तट' की बात 'मानस' में आई है किन्तु प्रत्यक्ष-मन्दिर का उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि तुलसीदास के समय में उदार प्रकृति के अकबर बादशाह ने मन्दिरों के नव निर्माण की आज्ञा दे दी थी और काशी, मथुरा आदि स्थानों में राजा टोडरमल एवं मानसिंह के उद्योग से बहुत से मंदिर बने। इसके बाद अयोध्या में राम के जन्मस्थान के बारे में भी लोगों ने विचार-विमर्श किया। इसके लिए सर्वप्रथम दक्षिण भारत से आन्दोलन आरम्भ हुआ। वहाँ से राम की भव्य मूर्ति उत्तम पुजारियों द्वारा अयोध्या के लिए भेजी गई, वृन्दावन तक वह आई थी। किन्तु जन्म-स्थान की बात और मंदिरों से सर्वथा भिन्न थी। वहाँ तो अकबर के पूर्व पुरुष बाबर के नाम पर 'बाबरी मस्जिद' का निर्माण हो चुका था। उसे हटाना एक कठिन समस्या थी। इस आन्दोलन में तुलसीदास जी का विशेष हाथ था। इसके लिए उन्होंने कब और कहाँ क्या-क्या काम किया, विवरण के साथ बताना सरल नहीं है किन्तु वास्तविकता यह है कि 'जन्म-स्थान' का मंदिर न बन सका। आज भारत स्वतन्त्र है फिर भी जन्म-स्थान की समस्या पूर्ण रूप से न सुलझ सकी। थोड़ा सा निर्माण हुआ है लेकिन वह सन्तोष प्रद नहीं है। इसके लिए आगे क्या होगा, नहीं कहा जा सकता, किन्तु भक्त-शिरोमणि तुलसीदास जी गंगा तट पर काशी में बने 'विन्दुमाधव-मंदिर' के 'विन्दुमाधव' की शोभा पर ही मुग्ध होते रहे।

तुलसी के मानस की वेदना उनकी 'विनय-पत्रिका' में आज भी मुखरित है—

ज्ञान, वैराग्य, धन, धर्म, कैवल्य सुख,
सुभग सौभाग्य सिव सानुकूलं।
तदपि नर मूढ़ आरूढ़ संसार-पथ,
भ्रमत भव विमुख-तव-पाद-मूलं॥
नष्ट मति, दुष्ट अति, कष्ट रत, खेद-गत,
दासतुलसी संभु सरन आया।

देहि कामारि श्रीरामपद - पंकजे,
भक्ति अनवरत गत भेद माया ॥
—विनय, १०

तुलसीदास के 'कष्ट' और 'खेद' का अन्त नहीं हुआ, उन्हें काशी में भी उसका सामना करना पड़ा। कितनी पीड़ा है उनके हृदय में, उन्हीं की वाणी में देखिये—

देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे।
किए दूर दुख सबनि के जिन जिन कर जोरे ॥
सेवा सुमिरन पूजिबो, पात आखत थोरे।
दियो जगत जहँ लगि सबै सुख गज-रथ-घोरे ॥
गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
आधिभौतिक बाधा भई, ते किंकर तोरे ॥
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसीदल रूँध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे ॥
—विनय, ८

'ते किंकर तोरे' से प्रकट होता है कि शैवोपासकों ने उन्हें कष्ट पहुँचाया था और 'तुलसीदल रूँध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे' से सिद्ध होता है कि उनकी नीचता अति निम्न कोटि की थी।

'विनय' में एक स्थल पर किसी कारावास से मुक्ति पाने के लिए यह पद आया है :—

ऐसी तोहिं न बूझिए हनुमान हठीले।
साहब कहूँ न राम से, तोसे न उसीले ॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले।
जानत हौं कलि तेरेऊ मन गुन-गन कीले ॥
हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले।
सो बल गयो किधौं भए अब गर्व गहीले ॥

सेवक को पर्दा फटे तू समरथ सीले।
अधिक आपतें आपुनो सुनि मानि सहोले॥
साँसति तुलसीदास की पुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले॥३२॥

हे हठी, हे सत्य पर चलने वाले श्री हनुमान जी, आपको ऐसा नहीं होना चाहिए। राम से बढ़कर कोई स्वामी नहीं है और आपसे बढ़कर दूसरा कोई सहायक नहीं है। आपके देखते ही मुझ जैसे सिंह के बच्चे को कलियुग रूपी मेंढक निगल रहा है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानों कराल कलिकाल ने आपके मन और गुणों को कील दिया है। आपकी हुंकार सुनते ही रावण जैसे बली पराक्रमी के अंग-प्रत्यंग के जोड़ ढीले पड़ जाते थे। वह बल-पौरुष आज कहाँ चला गया है। या तो आप में बल नहीं रह गया या कुछ अभिमान आगया है। आपके देखते ही इस सेवक का अपमान हो रहा है। इसे शीघ्र ही मिटा दें। आप सामर्थ्यवान् हैं। पहले तो आप अपने सेवक का बात सुनते थे और उसका आदर भी करते थे। अब क्या होगया है? क्या प्रकृति में कुछ अन्तर पड़ गया है। तुलसीदास की आपदा को सुन कर उसे दूर करने का यश आप ही लें, वैसे तो आप राम के भक्त हैं; तीनों काल में बना बनाया है।

इतनी प्रार्थना पर तुलसी की आपदा दूर हुई और उनका यश सर्वत्र फैल गया। इन सबका पता वास्तविक खोज करने पर चल सकता है। तुलसीदास जी ने सभी तरह की परिस्थितियों का संकेत अपनी रचनाओं में कर दिया है।

———

विनय-पत्रिका की

रचना का प्रयोजन

ऐसी प्रसिद्धि है कि भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के पवित्र आचरण और प्रभावोत्पादक उपदेशों के कारण शिवपुरी काशी में राम-भक्ति बड़े वेग से बढ़ने लगी। यह शैवजनों के लिए अप्रिय एवं असह्य वार्ता थी। उनके दल में इसका बड़ा क्षोभ था। असन्तोष का वातावरण दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया। तुलसी के ऊपर उनके अनेक प्रकार के आक्रमण होते रहे। इसी बीच एक ऐसी घटना घटित हुई—"एक दिन एक हत्यारा, जिसे गोहत्या लगी थी, इधर-उधर पुकार कर कह रहा था कि राम के नाम पर कोई मेरे हाथ का भोजन खाकर मुझे हत्या से छुड़ा दे।" जब यह पुकार तुलसी के कान में पड़ी तो उनसे न रहा गया। दयावश राम-नाम के कारण उसे बुलाकर प्रेमपूर्वक अपने साथ भोजन कराया। वह तो मुक्त हुआ किन्तु तुलसीदास जी के सामने एक बिकट समस्या खड़ी हो गई। काशी के ब्राह्मणों ने बड़ा उपद्रव मचाया। सबने आकर गोस्वामी तुलसीदास जी से पूँछा—"तुमने इसके साथ क्यों भोजन किया? क्या प्रमाण है कि यह हत्या से मुक्त हो गया?" तुलसी ने सामान्य रूप से इसका यह उत्तर दिया कि रामनाम का प्रभाव ही ऐसा है जिससे इसे हत्या लग ही नहीं सकती। किन्तु काशी का अभिमानी पंडित-समाज भला इतने से कब मानने वाला था। उसने कहा कि यह बात नहीं मानी जा सकती है। यदि विश्वनाथ जी का नन्दी इस हत्यारे के हाथ से खाले तो ऐसा समझा जा सकता है कि यह हत्या से मुक्त हो गया। अस्तु, इसके लिए समय निश्चित करके पूरा आयोजन किया गया। सबके देखते-देखते पत्थर के नन्दी ने राम-नाम के पुण्य-प्रभाव से उस हत्यारे के हाथ से दिया गया भोजन खा लिया। अब तो पंडितों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। राम-नाम का प्रत्यक्ष प्रभाव देख कर सभी राम की भक्ति में लीन हो गये। काशी शिवपुरी से रामपुरी का रूप धारण करने लगी। कलि का प्रभाव थोड़े से रामनाम के उच्चारण मात्र द्वारा दिनोंदिन

क्षीण होने लगा। यह बात कलि के लिए असह्य थी। वह गोस्वामी जी को अनेक प्रकार का त्रास देने लगा। उसके भय से वे काँप गये। जब प्रत्यक्ष होकर उसने इन्हें डाँटना आरम्भ किया तब इन्होंने श्री हनुमान जी की स्तुति की और अपनी समस्त अन्तर्वेदना का निवेदन किया। हनुमान जी प्रकट हुए और कहने लगे कि इस समय कलि का ही राज्य है। वह प्रबल है। मैं इसमें कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। इसके लिए एक उपाय है और उसी से आपका काम बन जायगा। यदि आप एक पत्रिका विवरण सहित भगवान् श्री राम जी की सेवा में लिखें तो मैं उसे उनके समक्ष करके कराल कलिकाल को दण्ड दिला सकता हूँ तथा वह आपका मार्ग छोड़ देगा। यही मूल प्रेरणा और प्रवृत्ति है जिसे प्राप्त कर तुलसीदास जी ने कलि से मुक्ति पाने के लिए श्री रघुनाथ जी की सेवा में यह 'विनय-पत्रिका' लिखी जो—'मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है' पर समाप्त हुई है। तुलसी की तो बन गई और तब से बनती आरही है अनेक नर-नारी की जो श्रद्धा और विश्वास से इसका मनन करते हैं।

———

भक्ति के साधन

'विनय-पत्रिका' में भक्ति-प्राप्ति के साधनों का पूरा विवरण है। इस सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री बैजनाथ जी ने लिखा है कि विनय की सात भूमिकायें हो है। उन सबका समावेश इस भक्ति-रस-आपूर्ण ग्रन्थ-रत्न में अपने विकसि रूप में है। वे भूमिकायें क्रमशः दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सन आश्वासन, मनो राज्य और विचारणा हैं।

(१) दीनता।

दीनता प्रदर्शित करने में भक्त अपने को सब तरह से हीन समझकर अप अपराधों तथा अपनी परिस्थितियों का सारा भार अपने ही ऊपर लेता है सबका उत्तर दायित्व स्वयं अपने ही पर समझता है। इस दृष्टिकोण से 'विन पत्रिका' में दिए गये पदों में से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है:—

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।

काम-लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि॥

× × ×

लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि॥
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि॥१५८

एक और देखिये:—

है प्रभु मेरोई सब दोसु।

सीलसिंधु, कृपालु, नाथ अनाथ आरत-पोसु॥

बेष बचन बिराग मन अघ अवगुननि को कोसु।
राम-प्रीति-प्रतीति पोली, कपट-करतब ठोसु॥

× × ×

मोद-मंगल-मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
रामनाम-प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोसु॥१५९॥

तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ, मैं आपको कैसे दोष दे सकता हूँ। हे भगवान्, आप की भक्ति को छोड़कर मेरा कामी, लोभी, चंचल मन इधर-उधर भटकता रहता है। मैं सदा अपनी ही प्रतिष्ठा चाहता हूँ किन्तु तुम्हारी पूजा श्रद्धा पूर्वक कभी नहीं करता हूँ। दूसरों को तो मैं उपदेश देता हूँ किन्तु स्वयं कोई शिक्षा नहीं मानता हूँ। ऐसी तो मेरी मूर्खता है। मैं न जाने कितने पाप प्रेम से इच्छापूर्वक कर हृदय में छिपाए हूँ किन्तु यदि कहीं संयोगवश कोई अच्छा काम किसी की सत्सङ्गति में पड़कर हो गया तो उसका सब जगह प्रचार करता हूँ। मुझे संसार महात्मा कहे, पूज्य माने, इसी की अधिक चिन्ता करता हूँ। यदि कभी कुछ अच्छा काम करके उसे गुप्त रखना चाहता हूँ तो अभिमान हठात् उसका प्रकाशन कर देता है। मैं आशा-रूपी डोर से बँधकर उसी भाँति नाचता हूँ जैसे गले में रस्सी बँधा हुआ बानर नाचता है। इसी आशा से मैं विद्वानों की भाँति श्रेष्ठ वैराग्य के निष्कर्ष को सुनाता फिरता हूँ कि जिससे लोग मुझे महान् समझें। इतना बड़ा पाखण्डी होने पर भी तुम्हारा दास कहलाता हूँ। हे नाथ, मैंने सब तरह लाज धो करके पी लिया है। निर्लज्ज होकर मनमाना किया करता हूँ। मेरी इस निर्लज्जता ही पर प्रसन्न होकर मुझे बन्धन से मुक्त करें। धर्म का सबसे बड़ा घातक अभिमान है॥१५८॥

हे प्रभो, सब मेरा ही दोष है। आप तो शील के समुद्र, कृपालु, अनाथों के नाथ तथा दीन-दुखियों का पालन पोषण करने वाले हैं। मैं वेश और वचन से विरागी हूँ किन्तु मन तो अवगुणों से भरा हुआ है। आपको भक्ति के लिए मन खोखला है परन्तु कपट के कामों के लिए ठोस है, दृढ़ है। जैसे शशक शृगाल की सेवा करके सिंह की कीर्त्ति चाहता है उसी प्रकार मैं कुसंगति में तो

प्रेमभाव रखता हूँ और उसे अपनाकर आनन्द-मग्न हो जाता हूँ, किन्तु साधु लोगों के साथ से अलग रहता हूँ, उनसे प्रेम नहीं करता हूँ। अपने इसी कर्म पर मैं यश और कीर्ति चाहता हूँ। शिव-सम्मत मत तो यह है कि 'जीभ से नित्य राम-नाम का उच्चारण किया करो। कलियुग में पाखण्ड-प्रपंच से भी लिया गया रामनाम अगस्त्य मुनि की भाँति दुःख रूपी समुद्र को सोख लेता है।' वह 'नाम' आनन्द और कल्याण की जड़ है, बहुत ही उपयुक्त है, ऐसा मेरा निश्चय है। तुलसी को रामनाम के ऐसे प्रभाव को सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ। उन्हें विश्वास हो गया कि उनका भी इस दुःखमय संसार से उद्धार हो जायगा ॥१५६॥

यह तो बात हुई 'दीनता' की जो 'विनय' की प्रथम भूमिका के अनुकूल है।

(२) मान-मर्षता।

इस स्थिति में भक्त अपने अभिमान को छोड़कर सब तरह से भगवान् की शरण में हो जाता है। वह अहं छोड़ देता है। देखिये 'विनय' में :—

काहें तें हरि मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥
पतित-पुनीत दीनहित असरन-सरन कहत स्रुति चारो।
हौं नहिं अधम सभीत दीन? किधौं बेदन मृषा पुकारो॥
× × ×
नाहिंन नरक परत मोकहँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो॥
—विनय, ९४

हे भगवान्, आपने मुझे क्यों भुला दिया। आप तो अपन महिमा और मेरे पापों को जानते थे, फिर भी मेरी रक्षा क्यों नहीं किया? चारों वेद कहते हैं कि आप पतितों को पवित्र करने वाले, दीनों की भलाई करने वाले तथा जिसे कहीं न स्थान हो उसे शरण देने वाले हैं। तो क्या मैं अधम, भयभीत तथा दीन नहीं हूँ? क्या वेदों ने झूठा ही यह प्रचार किया है कि आपने गीध, गणिकादि

का उद्धार किया है ? हे नाथ, मैं सब तरह से हार चुका हूँ। मुझे नरक में जाने का लेशमात्र भय नहीं, किन्तु सबसे अधिक डर मुझको इस बात की है कि आपके नाम ने भी मेरे पापों को नहीं जलाया। वे शक्ति हीन रहे, कितनी अपकीर्ति होगी, यही बड़े खेद की बात है ॥६४॥ यह विनय की दूसरी भूमिका हुई।

(३) भय-दर्शना

मन को सब तरह से भय दिखला कर इष्टदेव के समक्ष करने का प्रयत्न भक्त करता है। 'विनय' में देखें :—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तौ भव बेगारि महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे॥

× × × ×

मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे॥

—विनय, १८६

मन को भय दिखलाते हुए तुलसीदास जी कह रहे हैं कि हे भाई, राम राम कहते चलो नहीं तो संसारी बेगार में पकड़ लिए जाओगे और यहाँ से मुक्ति पाना कठिन हो जायगा। हमारे कुटिल कर्मों ने चन्द्रडोले का नाम देकर एक निकम्मा, बिना दाम का डोला हमें दिया जिसका बाँस पुराना है, सभी साज अटपट से इधर उधर लगे हैं जो सड़ा हुआ और तिकोना खटोला है। जन्म-जन्मान्तर से चले आए हुए कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्य-देह मिला है। यह क्षण भंगुर है। इस खटोला को ले चलने वाले कहाँर पाँच हैं जो पाँचों इन्द्रियाँ—नाक-कान, आँख, जिह्वा और त्वचा आदि हैं, ये गंध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श रूपी मद को पान किये हुए प्रमत्त हैं। सभी भिन्न दिशाओं में चलते हैं, मार्ग भी संकीर्ण है। इस प्रकार ऊँचे-नीचे चलने के धक्के से तथा ढलकन से मुझे दुःख का पूरा झकझोरा लग रहा है। रो-रोकर दिन बीत रहे

हैं। रास्ते में काँटे हैं। अनेक बाधायें हैं। कंकड़ पड़े हैं। साँप अलग से लिपट जाते हैं। स्थान-स्थान पर उलझन है। जैसे-जैसे चलते हैं वैसे-वैसे वास-स्थान भी दूर होता जा रहा है। कहीं कोई सम्बन्ध नहीं है न किसी से भेंट ही है। मार्ग बड़ा ही कठिन है। साथ में राहखर्च भी नहीं है। जहाँ जाना है, उस गाँव का नाम भी भूल गया है। किसके पास जाना है? यह भी भूल गया है। हे भगवान, मेरे अनुकूल होकर संसार के भय को दूर करें ॥१८६॥

(४) भर्त्सना

भक्त अपने मन को डाँट-फटकार कर भगवान् की ओर प्रवृत्त करता है तथा अनेक प्रकार से भला-बुरा कहता है। 'विनय' में तुलसीदास किस प्रकार इसका निर्वाह किये हैं, देखिये—

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भक्ति-सुर सरिता आस करत ओसकन की ॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होत लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच विलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की।
'तुलसिदास' प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥
—विनय, ६०

इस मन की कुछ ऐसी मूढ़ता है कि रामचन्द्र जी की भक्ति रूपी गंगा को छोड़कर ओस-कण की आशा करता है। भला भगवान् के भजन को छोड़ विषयों का साथ करने से कैसे कल्याण होगा। जैसे पपीहा बहुत सा धुँआँ देखकर उसे बादल समझ उसके पास जाता है परन्तु न तो शीतलता ही पाता है न जल ही, जिससे उसकी प्यास बुझे। इतना ही नहीं, धुएँ से आँख को अलग कष्ट होता है। ऐसी ही गति मन की है। जब वह सुख की आशा से विषय-वासना

की ओर दौड़ता है तब उसे सुख के स्थान पर दुःख की प्राप्ति होती है। जैसे अज्ञानी बाज पक्षी शीशे की दीवार में अपनी छाया देखकर अधिक भूख के कारण आतुर होकर अपने सुख की हानि को छोड़कर टूटता है, आक्रमण करता है और अपनी चोंच को तोड़ बैठता है ठीक इसी प्रकार हमारे अन्दर अनेक प्रकार की अज्ञानता है, उसे कहाँ तक कहें। हे कृपालु, आप तो अपने दास की सब स्थिति को जानते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं, हे प्रभु, मेरे घोर दुखों का शीघ्र ही नाश करें। ये सहन नहीं किए जा सकते हैं। अपने प्रण की तो लज्जा रखें। मैं आपकी शरण में हूँ तथा आप अपने शरणागत की रक्षा करते हैं, ऐसा प्रण है ॥६०॥

(५) आश्वासन

भक्त सब तरह से प्रभु के ऊपर निर्भर रह कर अपने मन को आश्वासन देता है और अपना उद्धार करने के लिए प्रयत्नशील होकर आगे बढ़ता है। 'विनय' में तुलसीदास जी इस प्रकार का उदाहरण देते हैं—

ऐसे को उदार जग माहीं ?
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
जो संपति दससीस अरपि कर रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥

—विनय, १६२

संसार में ऐसा कौन उदार है जो बिना सेवा किए ही दीन जनों पर कृपा करता है। ऐसे राम ही हैं। उनके समान और कोई नहीं है। जो गति ज्ञानी लोग योग और वैराग्य के यत्नों से नहीं पाते हैं उसे भगवान गीध तथा सबरी को देकर भी मन में कुछ नहीं समझते हैं। रावण ने शिव जी को अपने दसों शिर की भेंट चढ़ा कर जो सम्पत्ति प्राप्त किया था, उसे

विभीषण को राम ने संकोच के साथ बहुत ही कम समझ कर दिया। तुलसी-दास जी कहते हैं कि हे मन, यदि तू सब तरह का सुख और शान्ति चाहता है तो राम को भज, वे कृपा के निधान हैं। तेरे सब काम को पूरा कर देंगे। इस प्रकार तेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।

(६) मनोराज्य

इस दशा में पहुँच कर भक्त भगवान से अपने मनोवांछित फल की पूर्ति के लिए आशा किया करता है। तुलसी की गति देखिये—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें सन्त-सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो॥

—विनय, १७२

क्या मैं कभी इस रूप में रह सकूँगा—क्या कभी कृपालु श्री रामचन्द्र जी की कृपा से मेरा भी स्वभाव सन्तों की भाँति होगा? सन्तों के स्वभाव के अनुसार जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष प्रकट करूँगा। किसी से कुछ पाने की इच्छा न करूँगा। सदा दूसरे ही की भलाई करता रहूँगा। इस परोपकार के नियम का मन, बचन और कर्म से निर्वाह करूँगा। कानों से कर्कश और अप्रिय, न सुनने योग्य बचनों को सुनकर उसकी आग में न जलूँगा, किसी के द्वारा मान की इच्छा न करूँगा। मन को एक रस शीतल रक्खूँगा। दूसरे के गुण को ही कहूँगा। उनके दोषों को नहीं कहूँगा। शरीर सम्बन्धी चिन्ताओं को छोड़कर दुःख और सुख को समान समझ कर रहूँगा। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ, इस मार्ग का अवलम्ब लेकर क्या कभी आपकी अटल भक्ति मिल सकती है? क्या मेरे मन की ये इच्छाएँ कभी पूर्ण होंगी?

यहाँ भक्त अपने सच्चे मनोराज्य में विचरण कर रहा है। यहाँ केवल सत्य का राज्य है। योगी इसे समाधि की अवस्था में प्राप्त करता है किन्तु भक्त भगवान् के आगे आत्मसमर्पण करता हुआ इस राज्य का उत्तराधिकारी स्वभावतः बन बैठता है।

(७) विचारणा

भक्त संसार की असारता का ज्ञान प्राप्त कर मन को उससे दूर करने तथा अपने इष्ट देव की ओर उन्मुख होने की चेतावनी देता है। 'विनय' में देखिये—

केसव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये ॥

× × ×

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥

—विनय, १११

संसार की असारता देख तीनों भ्रम छोड़ अपने को पहिचान कर प्रभु की आराधना में लगने के लिए मन को उद्बोधन है। यह 'विनय' की सातवीं और अन्तिम भूमिका है। इस पद में तुलसीदास ने माया (प्रकृति) के वैचित्र्य को दिखाया है। जगत की स्थिति है अथवा इसकी प्रतीति भ्रम से हो रही है, इसकी सिद्धि के लिए तीन मत है—

(१) त्रैतवादी इसे सत्य मानते हैं, परन्तु नित्य सत्य नहीं, प्रवाह से। हाँ, उनके मत में प्रकृति नित्य और अजा है।

(२) अद्वैतवादी जगत को मिथ्या मानते हैं तथा तुरन्त यह कह देते हैं कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। इनका कहना है कि मुकुर-प्रतिबिम्ब के समान यह संसार सत् और असत् से भिन्न मिथ्या है। कारण यह है कि उस प्रतिबिम्ब की स्थिति नहीं प्रत्युत प्रतीति है।

(३) विशिष्टाद्वैतवादी का मत है कि जगत सदसत् दोनों ही है। इनका मत है कि ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अतः वही जगद्रूप

हो जाता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, इनका मुख्य-वाक्य (Motto) है। वर्तमान् में जगत् की स्थिति है, इसलिये सत्य है। परन्तु भूत में न थी और न भविष्य में रहेगी। अतः असत्य भी कहना असंगत नहीं आदि।

अब गोस्वामी तुलसीदास जी का कहना है—इन सब विचारों में पड़ना कि तीनों में कौन ठीक है, भ्रम में पड़ना है। इन सब विचारों को छोड़ कर 'आपन पहिचानो' अर्थात् इसका विचार करो कि जगत में मेरा अपना क्या है? किस प्रकार अपना कल्याण होगा, वह सोचो।

'विनय' के ८१ वें पद में आया है :—

नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यौ।

तबहीं ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्‌यौ॥

इसमें, 'जबतें जिवनाम धर्‌यौ' अधिक विचारणीय है। यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के अनुसार है।

त्रैतवाद के अनुसार 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास जी भजन संख्या ७३ में इस प्रकार लिखते हैं :—

जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।
देह गेह नेह जानु जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपने रहे संसृति संताप रे।
बूड़ो मृगबारि, खायो जेंवरी को साँप रे॥
कहै वेद बुध तू तौ बूझि मन माहिं रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥
तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहुँ ताय रे।
रामनाम सुचि रुचि सहज, सुभाय रे॥

इस पद में जीव को उपदेश दिया है कि इस संसार से विरक्त रहने ही में कल्याण है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था की सभी बातें असत्य होती हैं उसी प्रकार यह शरीर, घर, कुटुम्बी तथा सम्पूर्ण विश्व ही अनित्य है। इसलिए भगवान् का भजन ही श्रेयस्कर है। 'मृगबारि' तथा 'जेवरी को साँप' से यह प्रकट होता है कि ये मिथ्या और कष्टदायक हैं। सूर्य की किरणों में जैसे जल

का तथा रस्सी में साँप का सब तरह से अभाव है वैसे ही जगत में शान्ति-सुख का अभाव है। इसलिए तुलसीदास जी चैतन्य कर रहे हैं कि जागरूक होने पर ही स्वप्न का भ्रम दूर होगा। इसके लिए राम-नाम ही सहज एवं पवित्र उपाय है।

भजन संख्या १०५ में इस संसार की तुलना रात्रि से की गई है :—

अबलौं नसानी अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानो जागे फिरि न डसैहौं॥

पुनः भजन संख्या ११९ निम्ननिहित पद से जीव का भिन्नत्व और रात्रिवत् रूपक सिद्ध है :—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपा-पात्र जन जागै।
निज करनी बिपरीति देखि मोहि समुझि महा भय लागै॥

सद्ग्रन्थों में अज्ञानावस्था का स्वप्न और ज्ञानावस्था को जाग्रत कहा गया है। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि योगी लोग इस संसार रूपी रात्रि में जागरूक रहते हैं और अज्ञानी सोकर नाना प्रकार के स्वप्न-जनित कष्ट भोगते हैं। जब जीव सब प्रकार के भोगों और विलासों से विरक्त हो जाय तब समझना चाहिए कि वह जाग्रत है। इसी सिद्धान्त को श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को समझाया है—

"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

ब्रह्म और जीव के भेद को पूर्णरूप से तुलसीदास जी ने 'विनय-पत्रिका' की भजन संख्या ७६ में स्वीकार किया है। इन्होंने कहा अद्वैतवाद कहीं विशिष्टाद्वैत और कहीं द्वैतवाद की सिद्धि की है।

———

आध्यात्मिक सिद्धान्त

'विनय-पत्रिका' के अन्तर्गत जितने पद हैं सभी भक्ति-साधन के वर्णित सातों भूमिकाओं में से किसी न किसी भूमिका में रक्खे जा सकते हैं काव्य से गोस्वामीजी के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का ज्ञान स्पष्टरूप से होता भक्ति-काण्ड का यह सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। भक्तों के लिए इससे सरस एवं रागमय दूसरा और कोई ग्रन्थ नहीं है। इसमें भक्ति-पद्धति का पूर्ण विवेचन किया गया है। इसमें से अपने काम की वस्तु अनुभवी और प लोग ही पा सकते हैं। यह इसकी विलक्षणता है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ही रससे आपूर्ण है, इसलिए यह कहना शेष नहीं रह जाता कि इसमें किस सि का प्रतिपादन हुआ है। सामान्यतया यदि प्रत्यक्ष देखा जाय तो इसमें सिद्धान्त की ही प्रधानता है। वे सभी विशेषतया आध्यात्मवाद से समाविष्ट जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इन्होंने यत्र-तत्र अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वै और द्वैतवाद तीनों की सिद्धि की है, हमारे सामने एक विकट समस्या उप हो जाती है और उसका सुलझाना सरल नहीं है।

गोस्वामीजी भारतीय धर्म की परम्परा के ज्ञाता और पोषक थे। 'मानस' का यही लक्ष्य था कि लोगों की प्रवृत्ति उसके अनुसार आचरण की हो। इसीलिए उन्होंने उसमें 'श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति' का पथ बतलाया राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हुए आध्यात्म तत्व का निरूपण सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुरूप किया है। कई एक स्थलों पर आध्यात्म की चर्चा उन सिद्धान्तों का विवेचन किया है। वे सभी सिद्धान्त श्रुति-सम्मत होने के मान्य हैं। यहाँ यह देखना है कि गोस्वामीजी के विचार के अनुसार कौ सिद्धान्त ग्राह्य एवं मान्य है।

'उपनिषद्' निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म को मानते हैं। दासजी ने भी—'सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा,' तथा 'सगुनहिं अगुनहिं

कछु भेदा' कहा है। ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण पूर्णरूप से नहीं किया जा सकता है। वेद भी उसका पार नहीं पाते हैं। वह अनुभव किया जा सकता है। उसका वर्णन करना असम्भव है। मन से ही उसका साक्षात्कार हो सकता है, वाणी से नहीं—'कहि नित नेति निरूपहिं वेदा, निजानन्द निरुपाधि अनूपा।' इसी 'निरुपाधि अनूपा' को ब्रह्म समझना चाहिये। जो ब्रह्म है वही देवताओं, भक्तों, पृथ्वी और गो-ब्राह्मण के हित सगुण हो जाता है तथा मनुष्य रूप में प्रकट होता हैं। शिव ने पार्वती से यही इस प्रकार कहा था—"हे पार्वती! ब्रह्म का आदि-अन्त कोई नहीं जानता है, फिर भी अनुमान-द्वारा वेद उसके विषय में कहते हैं कि वह बिना पैर के चलता है, हाथ के बिना अनेक कर्म करता है, जिह्वा के बिना ही रस ग्रहण करता है और बोलता है, शरीर के बिना ही स्पर्श करता है, नेत्र के बिना ही देखता और नाक के बिना ही सूँघता है। उसकी महिमा का वर्णन करना कठिन है। जिसका वेद और बुद्धिमान जन इस प्रकार का परिचय देते हैं और मुनिजन ध्यान करते हैं वही ब्रह्म भक्तों के लिए दशरथ-पुत्र राम हुआ।"

जो ब्रह्म अलख, मन और और वाणी के लिए अगोचर है, जिसके विषय में कोई तर्क नहीं किया जा सकता है, जो सदा एक रस रहता है—निर्विकार है, जिसकी प्राप्ति के लिए ही योगी जन योग-साधन करते हैं और जिसकी महिमा न बतला सकने के कारण वेद 'नेति' 'नेति'—अन्त नहीं है, कहा करते हैं वही राम हैं। निर्विकार ब्रह्म ही नेत्रों का विषय हो जाता है, अवतार लेता है, फिर भी उसका पार नहीं मिलता। यही गोस्वामीजी का सिद्धान्त है।

कतिपय विद्वान् गोस्वामीजी को श्री रामानन्दजी की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत मानते हैं और उनकी रामोपसना को विशिष्टाद्वैत मत के अनुकूल सिद्ध करते हैं। इस मत के प्रमुख आचार्य श्री रामानुज थे। वे चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन पदार्थों को मानते थे। उन्होंने जीव को चित्, जगत् को अचित् और सर्वान्तर्यामी को ईश्वर कहा है। जीव और जगत नित्य होते हुए भी ईश्वर के अधीन हैं। जीव तो सच्चिदानन्द स्वरूप और ईश्वर का अंश माना

गया है। जीव एक दूसरे से भिन्न और अनन्त है। जैसा कि मानस में आया है—'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन, अमल, सहज सुख-रासी ॥' तथा 'जीव अनेक, एक श्रीकन्ता।' इसलिए यह सिद्ध है कि विशिष्टाद्वैत में प्रतिपादित जीव को ही तुलसीदास भी मानते थे।

विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार ईश्वर—अनन्त, दिव्यगुणों से युक्त, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द स्वरूप, षड्ऐश्वर्य पूर्ण और जगत का कारण माना गया है। 'मानस' में इसका प्रमाण इसका प्रकार आया है—

(१) अनन्त

देसकाल दिसि बिदिसहु माहीं, कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।

(२) दिव्य गुण

राम अमित गुण सागर, थाह कि पावै कोइ।

(३) सर्वान्तर्यामी

राम उमा सब अन्तर्यामी, अथवा अन्तरजामी रामसिय।

(४) सच्चिदानन्द स्वरूप

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। अथवा,
सुद्ध सच्चिदानन्द मय कन्द भानुकुल-केतु।

(५) षड् ऐश्वर्य पूर्ण

(क) ज्ञान—ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।
(ख) शक्ति—अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता।
(ग) बल—मरुत कोटि सत बिपुल बल।
(घ) ऐश्वर्य—रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।
(ङ) वीर्य—पुरुष सिंह दोउ वीर, तथा
विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।
(च) तेज—राम तेज बल बुधि निपुनाई।
सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥

ईश्वर ही एक मात्र जगत का निमित्त है, इसके प्रमाण में देखिये—

जेहि सृष्टि उपायी त्रिबिधि बनाई संग सहाय न दूजा।

विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए तथा संसार की रक्षा के लिए ईश्वर पाँच प्रकार का रूप धारण किया करता है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार।

इस प्रकार जिन देवताओं ने 'बनचर देह धरी छिति माहीं' उन तथा भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और जानकी से परिवेष्टित 'राम' ईश्वर के 'पर' रूप हैं। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उनके 'व्यूह' हैं। अवतार 'विभव' कहे जाते हैं। मुख्य और गौण उसके दो भेद हैं। साक्षात् अवतार मुख्य और आवेशावतार गौण कहे जाते हैं। यहाँ पर राम तो साक्षात् अवतार हैं। स्वर्ग, नरक आदि सर्वत्र हृदय में सुहृद भाव से स्थित भगवान् का स्वरूप 'अन्तर्यामी' कहा जाता है।

देशकाल की उत्कृष्टता से रहित, आश्रित की इच्छा के अनुसार, अर्चा करने वाले के सभी अपराधों को क्षमा करनेवाले, दिव्य देहधारी, षड् ऐश्वर्य से युक्त, गृह, ग्राम, नगर, प्रदेश और पर्वत आदि में विद्यमान तथा अपने सभी कृत्यों में अर्चना करने वाले की अधीनता मानने वाले मूर्तधारी को 'अर्चावतार' कहते हैं। 'मानस' में इस मत की सभी बातों का समावेश पाया जाता है। लेकिन इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी विशिष्टाद्वैत अथवा और किसी सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे। वे उस निरुपाधि ब्रह्म के उपासक थे जिसे वेदों ने 'नेति-नेति' कहा है। जिसका रूप मन और वाणी के लिए अगोचर है, किन्तु जो भक्त और लोक के कल्याण के लिए राम के रूप में अवतरित हुआ था, उसकी आराधना वे किया करते थे। 'विनय-पत्रिका' में अपने उस इष्टदेव की रूपरेखा को स्पष्ट कर दिया है—

छः मत बिमत, न पुरान मत, एक मत,
नेति नेति नेति नित निगम कहत।
औरनि को कहा चली? एकै बात भलै भली,
राम-नाम लिए तुलसी हूँ से तरत॥

विनय०, २५१

इसका अर्थ यह हुआ कि छओं शास्त्रों के मतों में विभिन्नता पाई जाती है, अठारहों पुराण भी एकमत नहीं हैं और वेद तो 'नेति-नेति' कह कर चुप हो जाते हैं, कुछ कहते ही नहीं हैं। इस प्रकार शास्त्र, पुराण और वेद जब किसी निश्चत रूप का बोध नहीं करा सकते तब औरों में क्या शक्ति है कि वे ईश्वर के सबन्ध में कुछ बतला सकें। मेरे मत से तो मुझे एक ही बात उचित और उत्तम मालूम पड़ रही है कि 'राम-राम' कहना ही अच्छा है, जिससे तुलसी जैसे लोग भी संसार से मुक्त हो जाते हैं।

गोस्वामी जी ने 'विनय' में अपने मत का वर्णन अनेक स्थलों पर स्पष्टरूप में किया है। देखिये—

यह बिनती रघुबीर गोसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव जड़ताई॥

—विनय०, १०३

उन्होंने वेद-वर्णित सभी उपायों और पुराण-कथित सभी देवताओं को छोड़कर एकमात्र राम को इस प्रकार आत्मसमर्पण कर दिया था। देखिये—

हैं स्रुति बिदित उपाय सकल सुर,
केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यह जीव मोह रजु,
जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥

—विनय०, १०२

आगे और भी स्पष्ट कहा है—

देसकाल पूरन सदा, बद बेद-पुरान।
सबको प्रभु सब में बसै, सबकी गति जान॥
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइए, संकर जेहि सेव॥

—विनय, १०७

उन्होंने सुमति द्वारा दी हुई शिक्षा को, जो ध्रुव को दी गई है, आदर्श माना है—

इहै कह्यो सुत बेद चहूँ।
श्री रघुबीर चरन चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहूँ॥
—विनय०, ८६

गोस्वामी तुलसीदास ने जिन जीवों को संसार के मायाजाल में फँसकर विषय वासनाओं में लिप्त पाया है, उनके लिए 'जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त का निरुपण किया है, लेकिन जो लोग परार्थ तथा परमार्थ में जगत् की सत्ता को जानते-मानते हैं, ऐसे कर्मयोगियों के लिए तो उन्होंने 'जगत सचाई सार' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनका मायावाद दार्शनिक न होकर नैतिक है। यही कारण है कि 'जीव ब्रह्मैक्यबाद' का पक्ष न लेकर उन्होंने भेद-वाद को ग्रहण किया है। 'विनय-पत्रिका' का प्रत्येक पद इसका प्रमाण है। उन्होंने मोक्ष की इच्छा कहीं भी नहीं की है। देखिए—

तुलसिदास जाचक रुचि जानि दानि दीजै।
रामचंद्र चंद्र तू चकोर मोहि कीजै॥
—विनय, ८०

× × ×

खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सुख पैहौं, या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं॥
—विनय, २३१

यदि उनका सिद्धान्त 'संसार को असत्य मानने का होता तो 'खग, मृग, तरु' बनने की प्रार्थना अपने राम से न करते। वे तो 'सिया राम-मय सब जग जानी' के पोषक थे, इसलिए 'नरक' भी सत्य, सारमय तथा आनन्द दायक समझते थे, इसके लिए वे केवल एक का होकर रहना चाहते थे। बिना भगवान् के वे मोक्ष को भी असार, दुःखमय और, असत्य मानते थे। उनके दृष्टिकोण से श्री राम-जानकी की भक्ति ही श्रेष्ठ और सुखकर सुलभ थी, उसके समक्ष ज्ञान, ध्यान, तप तथा यज्ञादि को भी तुच्छ मानते थे। भक्ति और सगुण

तुलसिदास व्रत दान ग्यान तप, सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
राम चरन-अनुराग-नीर बिनु अतिमल नास न पावै॥

—विनय, ८२

इस प्रकार सर्वत्र 'भेद-वाद' का ही प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने संसार की असत्यता मानकर जहाँ भ्रम की प्रबलता दिखाया है, वहाँ पर ज्ञान और स्वयं-सिद्ध पुरुषार्थ की बात नहीं कही गई है न तो उसकी स्तुति ही हुई है। ऐसे स्थानों पर भ्रम को मिटाने के लिए सर्वत्र यही आया है—

तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु, संसय टरत न टारी ॥११३॥
तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला, छुटहि तुम्हारे छोरे ॥११४॥
तुलसिदास हरि गुरु-करुना बिनु, बिमल विवेक न होई ॥११५॥
तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं ॥११६॥
तुलसिदास भव ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु गामा ॥११७॥
बिन तव कृपा दयालु दास हित, मोह न छूटै माया ॥१२३॥

"तुम माया पति, हौं बस माया" के आधार ही पर ऐसा कहा गया है। इस में अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञान और योग पर दबाव नहीं डाला गया है। सदैव सगुणोपासना ही को प्रधानता दी गई है। तुलसी की रचना में जीव-ब्रह्मैक्य सम्बन्धी सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता है। भक्ति के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का ही सर्वत्र प्रसार है।

तुलसी अपने आराध्यदेव से इस प्रकार की ही कामना करते हैं। देखिये—'विनय' पद संख्या २६६ में :—

राम, कबहुँ प्रिय लागिहौ, जैसे नीर मीन को ?
सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को, हित ज्यों धन लोभ लीन को !

तथा

कबहुँ रघुबंसमनि, सो कृपा करहुगे ?
जेहि कृपा ब्याध गज बिप्र खल नर तरे,
तिन्हहि सम मानि मोंहि नाथ उद्धरहुगे ? —विनय २११

यही नहीं और भी—'विनय' में ही :—

कबहिं देखाइहौ हरि, चरन ?
समन सकल कलेस कलिमल, सकल-मंगल-करन ।।२१८।।

तुलसीदास की कामना 'विनय' पद सं० २६८ में देखिये—

प्रभु-गुन सुनि मन हरषि है नीर नयननि ढरिहै ।
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनंद उमँगि उर भरिहै ।।

× × ×

कबहुँ कृपा करि मोहूँ रघुबीर चितैहौ ।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि औगुन अमित बितैहौ ।।
—विनय०, २७०

इस प्रकार तुलसीदास जी परम भक्त अनन्य वैष्णव ही सिद्ध होते हैं । उनकी अनन्यता के लिए इतना और समझ लेना पर्याप्त है—

हरिहि हरिता, विधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जेहि दई ।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमयि मंगलमई ।।
—विनय, १३५ छन्द सं० ३ ।

भक्ति के लिए तुलसीदास जी ने सत्संग और भगवत्-शरण दो सुगम पथों को बतलाया है । भगवत्शरण प्राप्त करने के लिए 'विनय' में अधिक पद आए हैं । इन पदों को पढ़ते समय पाठक अथवा भक्त इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसे मायावाद या ब्रह्मवाद किसे कहते हैं, इसका ज्ञान नहीं रह जाता है ।

अन्त में भक्त-शिरोमणि तुलसीदास जी के सिद्धान्त का सार इस प्रकार भी समझिये—

नाहिने नाथ अवलम्ब मोहि आन की ।
कर्म, मन, वचन प्रण सत्य करुणानिधे एक गति राम भवदीय पदत्राण की ।
—विनय पत्रिका, २०९।

विनय-पत्रिका में विविध विषयों की व्याख्या

(१) धर्म

मर्यादा का सिद्धान्त सनातन है। जिन विशेष नियमों के द्वारा यह मर्यादा स्थिर रहती है वे भी सत्य और अटल हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्म के दस लक्षण माने गए हैं, उन्हें हम Fundamental या सनातन सत्य कह सकते हैं, जो प्रत्येक समाज और काल के लिए अटल, अचल हैं। किन्तु कुछ नियम ऐसे होते हैं जिनका समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों के कारण, देश काल के अनुसार, परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। इसी आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न समयों के लिए विभिन्न स्मृतियाँ रची गई हैं।

हमारे शास्त्रों में "धर्म-ग्लानि" शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर आता है—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।" या 'जब-जब होइ धरम की हानी' इसका क्या तात्पर्य है? 'मर्यादा भंग' के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। धर्म की हानि किस प्रकार हुई इसका चित्र खींचते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी मर्यादा-भंग का चित्र खींचा है। 'विनय' में देखिये—

आश्रम बरण-धरम विरहित,
जग लोक-बेद-मर्याद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत,
अपने अपने रंग रई है॥

गीता में स्वधर्म पालन पर अधिक प्रभाव डाला गया है। समज को सुचारु रूप से चलाने के लिए ही श्रम-विभाग के अर्थ वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था की गई थी और उन्हें अलग-अलग दायित्व दिए गए थे। उनके निश्चित कर्त्तव्य और अधिकार थे। किन्तु एक व्यक्ति यदि अपना कर्त्तव्य न पालन करे और

अधिकारों के लिए लड़ता रहे तो मर्यादा-भंग हो जायगी। अधिकारों की प्राप्ति के साथ कर्त्तव्यों का पालन आवश्यक है। इनका सामंजस्य बिगड़ जाने से समाज की मर्यादा भंग हो जाती है और उसी को धर्म-ग्लानि कहते हैं। तुलसीदासजी के समय में देश की यही दशा थी, जिसका 'विनय' में वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं में भी इस पर पूरा प्रकाश डाला गया है।

(२) देश की समस्यायें

गोस्वामी जी के सामने देश में लोगों का आदर्श कुछ भी नहीं था, वे आचरण-हीन हो गए थे। परिवार के व्यक्तियों के पतित हो जाने से पारिवारिक सम्बन्ध भी विकृत हो गया था। वर्णाश्रम धर्म टूट चुका था। देश में विधर्मी राज कर रहे थे, जिससे स्वधर्म और स्वजाति पर अत्याचार हो रहा था। धर्म शिथिल हो चुका था। भिन्न-भिन्न मतों के चक्कर में लोगों को कोई एक सरल मार्ग सुझाने वाला न था। लोग नियमों को ही धर्म समझ बैठे थे। देश की आत्मा गुलाम हो चुकी थी। विधर्मियों की तलवार के सामने धर्म की मर्यादा के पालन का ही नहीं, उस धर्म तथा धर्म के पालन करने वालों का अस्तित्व ही संदेहजनक हो रहा था। सामयिक परिस्थिति का वर्णन गोस्वामीजी ने 'विनय' में इस प्रकार किया है—

दीन दयाल दुरित दारिद दुख दुनी सकल तिहुँ ताप तई है।
देव दुवार पुकारत आरत सबकी सब सुख हानि भई है॥

विनय०, १३९

उस समय के राज-समाज का वर्णन करते हुए लिखा है कि राजा भूमिचोर (भूमिचोर भूप भये) तथा प्रजा को भक्षण करने वाले (भूप प्रजाशन) हो गए थे। देखिये—

राज समाज कुसाज कोटि कटु,
कल्पत कुटिल कुसाज नई है॥
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति
हेतुबाद हठ हेरि हई है॥—विनय०, १३९

ऐसे शासन से देश की साधारण जनता पर जो प्रभाव पड़ सकता था वही पड़ा। देश की साधारण प्रजा भी कितनी पतित तथा संगठन-हीन हो गई थी वह इस गुलामी का ही फल था—

प्रजा पतित पाखंड पाप रत
अपने अपने रंग रई है।
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि,
बढ़ी कुरीति कपट कलई है॥ —विनय, १३६

रावण आदि राक्षसों के अत्याचारों के व्याज से उन्होंने उस समय के अत्याचारों का वर्णन किया है। समाज के नेता ब्राह्मणों की दशा इस रूप में थी—

प्रभु के बचन वेद बुध सम्मत,
मम मूरति महिदेवमयी है।
तिनकी मति रिस राग मोह मद,
लोभ लालची लीलि लई है॥ —विनय, १३६

क्षत्रिय समाज आपस की फूट में मस्त था, तब दुष्टों की प्रबलता और सज्जनों को कष्ट होना स्वाभाविक ही है—

सीदति साधु साधुता सोचति,
बिलसत खल हुलसत खलई है॥१३६॥

वर्णाश्रमधर्म तथा मर्यादा का तो लोप सा हो गया था। इसी पद में आगे देखिये—

आश्रम बरण धरम बिरहित जग,
लोक बेद मर्याद गई है।

इस कारण नीचों का सिर पर चढ़ना स्वाभाविक हो गया था। देखिए—

'त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर,
ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है। —विनय, १३६

(३) देश-भक्ति

"परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो"
—विनय०, १७२

परहित साधन को तुलसीदास राम-भक्ति का ही अंग समझते हैं। भारत में जन्म लेना भी वे गौरव की बात समझते हैं 'विनयपत्रिका' में देश-हितैषी प्रार्थना देखिये—

'सरुष बरजि तरजिये तरजनी
कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है।
दीजै दादि देखि नातौ बलि
मही मोद मंगल रितई है ॥१३६॥

विनय-पत्रिका में आरम्भ से अन्त तक जगत् पिता के प्रति एक दुःखी देश-हितैषी का प्रार्थना-पत्र है। यह विश्व-सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया गया है और उन्होंने प्रसन्न होकर उसे स्वीकार भी कर लिया है, जिसके विषय में देखिए—

"रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है।
समरथ बड़ो सुजान सिरोमनि सुकृत सेन हारत जितई है।।"
—विनय०, ११६

(४) सौन्दर्य, शक्ति और शील का सामंजस्य

राम के सौंदर्य पर गोस्वामी जी बार बार मुग्ध हुए हैं। उनकी अद्‌भुत शक्ति धनुषयज्ञ आदि में देख कर श्रद्धा से विनत हुए हैं, उनके विचित्र शील-स्वभाव को देख कर अपना सारा हृदय ही समर्पित कर दिये हैं। 'राम काम शत कोटि सुभगतन' की सुन्दरता में 'दुर्गा कोटि सरिस अरि मर्दन' की शक्ति मिलकर उतनी आकर्षक मूर्ति नहीं बनती, जितनी 'एक बानि करुणानिधान की' आदि में सन्निहित उनके कोमल शील स्वभाव से मिलकर बन जाती है। केवल सौन्दर्य या शक्ति पर मुग्ध होनेवालों के लिए उनका यही रूप पर्याप्त है। किसी भी हृदय रखने वाले पर अद्‌भुत शील का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। शरणागत-वत्सलता, दीनों पर दया तथा पतितों पर करुणा देखकर पापी से पापी हृदय भी द्रवीभूत हो जाता है। देखिये—

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह-समाई ॥

नेह निबाहि देह तजि दशरथ कीरति अचल चलाई।
ऐसेहुँ पितु ते अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई॥
तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।
रन परयो बंधु, बिभीषनही को सोच हृदय अधिकाई॥
घर गुरु-गृह प्रिय-सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सेवरीके फलनि को रुचि माधुरी न पाई॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिरनाई।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई॥
प्रेम-कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई।
'तेरो रिनी हौं' कह्यो कपि सों ऐसी मानिहै को सेवकाई॥
तुलसी राम-सनेह-सील लखि जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई।

—विनयपत्रिका, १६४

ऐसे उदार चरित्र को सुन कर सभी का हृदय पसीज सकता है और उसके ऊपर जो प्रभाव पड़ेगा, उससे उसका कल्याण होना सुनिश्चित है।

(५) साधन का समन्वय

जीवन के साधनों के साथ उन साधनों का भी तुलसीदास ने समन्वय किया है। अपने समय में प्रचलित सभी आत्मप्राप्ति के मार्गों का गोस्वामीजी ने परीक्षण किया और उन सबको या तो व्यर्थ पाया या कष्टसाध्य पाया। निम्न-लिखित पद में उन्होंने सबकी परीक्षा की है तथा अन्त में भक्ति ही को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है—

नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि भरि बेद परोसो॥
आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो॥

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति-प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
राम-नाम बोहित भवसागर, चाहै तरन तरो सो॥
—विनय-पत्रिका, १७३

इसमें गोस्वामीजी ने तप, उपवास, दान, यज्ञ, योग, ज्ञान, वैराग्य आदि सब मार्गों के बीच पड़े हुए संसारी लोगों की दशा बतला कर सबकी कठिनाई सिद्ध कर भक्ति ही को सबसे सरल मार्ग बतलाया है। यहाँ तक कहा है कि—

कर्म उपासन ज्ञान जोग मत बहु साधन समुदाई।
(संजम जप तप नेम धर्म व्रत, बहु भेषज समुदाई।)
तुलसिदास भवरोग राम-पद प्रेमहीन नहिं जाई॥
—विनय०, ८१

सब मतों की एकता और सबका आदर करते हुए भी वे अपने विशेष मत को नहीं छोड़ते हैं। वे किसी की निन्दा नहीं करते हैं, केवल अपने प्रेम धर्म का समर्थन करते हुए चलते हैं—विनय०, ११६ में देखिये—

(कर्म उपासन ज्ञान जोग) सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
—ज्ञान भगति साधन अनेक
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥

× × ×

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान करो॥
करम उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहिं तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥
चाटत रह्यौ स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥

स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं 'कुंजरो नरो'।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीभ गरो।
अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहिं समुझि परो॥

विनयपत्रिका, २२६

इस प्रकार तुलसीदास ने सभी सम्प्रदायों के प्रति समादर की भावना रखते हुए उसका मण्डन किया है और उसकी कठिनाइयों को बतलाया है। मानव-समाज के लिए कौन सा मार्ग सुलभ है, समझा-बुझा कर जिस 'हरे रंग' में उसे रँगा है उसमें शैव और वैष्णव आदि भिन्नमत वाले एक हो गये हैं। यदि ऐसा न हुआ होता तो अब तक शिवकांची और विष्णुकांची के कंठी-रुद्राक्ष का झगड़ा न समाप्त हुआ होता। गुसाईंजी सभी देवताओं से समझौता कर सकते थे किन्तु ऐसे देवता से वे कभी भी मेल नहीं रखते थे, जिसके पूजन से आचरण में पवित्रता न आ सके। वे क्षुद्र कामनाओं को पूर्ण करने वाले भूत-प्रेतादि तथा अन्यान्य क्षुद्र देवताओं को स्वार्थी समझते हैं और उनकी पूजा की गणना महापापों में करते हैं।

(६) प्रेम-धर्म

तुलसीदासजी के धर्म को प्रेम-धर्म भी कहा जा सकता है। यह अधिक उपयुक्त है, क्यों कि भक्ति-मार्ग कहने से सभी भक्ति के पंथों का बोध हो सकता है। इस लिए उन सभी भक्तिमार्गों से अलग करने के लिए हम तुलसीदास की भक्ति को 'तुलसी-मत' या 'प्रेम-धर्म' कहना अधिक उत्तम समझते हैं। उनका जीवन इसी के प्रचार-प्रसार में लगा। इनमें जिस कोटि में प्रेम की पराकाष्ठा, भक्ति-तल्लीनता तथा प्रीति-प्रतीति पाई जाती है, दूसरे किसी भी महात्मा में नहीं मिलती। इनकी रचना प्रेम की विकसित वाटिका है। 'विनय' में इनके प्रेम का उद्गार देखिए—

श्रवण कथा मुख नाम हरि,
सिर प्रनाम सेवा करि अनुसरु ।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि,
अग जग रूप भूप सीतावरु ॥

इसी प्रेम की तल्लीनता के कारण तुलसीदासजी प्रेम को नेम से श्रेष्ठ समझते हैं। बाहरी दिखावा या नेम की चिन्ता न करके वे प्रेम की सरसता को अधिक रुचिकर समझते हैं।

[७] प्रेम की परिधि

तुलसीदासजी के प्रेम का विस्तार संकुचित नहीं था। निम्नस्तर से उच्चाति-उच्च स्तर तक के जीवों के लिए ये इसका विस्तार मानते हैं। व्यक्ति-परिवार से लेकर जाति, देश आदि की सीमा से पार विश्वकी अन्तिम रेखा तक प्रेम का प्रसार मानते हैं। प्रेम जिस शरीर में हो, उसके लिए समादर की भावना रखते हैं। इस विषय में छूत-अछूत का प्रश्न नहीं है। प्रेमी के हृदय की वे पूजा करते हैं। निषाद और चाण्डाल को भी प्रेम के कारण हृदय से लगाया है। प्रेम को जीवन का रस समझते हैं, उसके बिना सब अलोना समझते हैं—

कीरति कुल करतूति भूति भल शील सुभाव सलोने।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित, जस सालत साग अलोने ॥

—विनय०,

प्रेम के सम्बन्ध को संसार के सभी सम्बन्धों से अधिक मानते हैं—

तुलसी सो सब भाँति परम हित सुहृद प्राण ते प्यारो।
जातें होय सनेह रामपद येतो मतो हमारो ॥
नाते नेह रामतें मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥

—विनय०,

प्रेम ही को इन्हों ने धर्म का रूप दे दिया है। जहाँ पर संसार के सम्बन्ध प्रेम में बाधक होते हैं वहाँ उसे छोड़ देने का उपदेश देते हैं—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।

—विनय०,

प्रेमों की एकता समझ कर उसे वे राम-चरण में केन्द्रित कर देते हैं। उसकी परिधि में सम्पूर्ण विश्व को आलिंगित कर लेते हैं। यदि प्रेम सब में जाग्रत है, तो फिर वे बाहरी साधनों की चिन्ता नहीं करते हैं, अपितु बिना प्रेम के सभी साधनों को व्यर्थ समझते हैं—

सोह न, राम प्रेम बिनु ज्ञान। (मानस)
तुलसिदास भव-रोग, राम-पद-प्रेम-हीन नहिं जाई।।

—विनय०,

इसी प्रेम के आधार पर जन-समाज में फैली हुई उदासीनता का उन्होंने लोप कर दिया।

[८] 'विनय' में सर्वदेव समन्वय

भारतीय धर्म की प्रवृत्ति आरम्भ ही से सर्वदेव-समन्वय की रही है। जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र के संधान में ही जाती हैं, उसी प्रकार सभी मार्ग उस एक की खोज में रहते हैं। उपनिषदों तथा गीता के विराट रूप को भागवत आदि पुराणों में भी स्वीकार किया है।

भागवत वैष्णव ग्रंथ है, लेकिन शिव की उपासना को भी उपासना मानता है। भर्तृहरि ने तो शैव, वेदान्ती, नैयायिक, मीमांसक, जैन सभी के उपास्य को उसी एक ही 'हरि' को माना है। इसी उदारता के कारण ही बौद्धों के 'बुद्ध' और जैनों के 'ऋषभ देव' को हिन्दू-अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया है। अन्य अवतारों की भाँति उनकी भी स्तुतियाँ की गई हैं—

गोस्वामीजी ने भी ईश्वर का रूप उपनिषदों ही के अनुसार माना है तथा उसके ही समान भिन्न-भिन्न देवताओं को उन्हीं का रूप अथवा अंग माना है। गीता के समान राम के विश्वरूप में सभी देवताओं को ग्रथित कर दिया है। 'विनय' की भजन संख्या ५२ में देखिये उन्होंने सभी अवतारों की स्तुति किस प्रकार की है, साथ ही उसमें राम के ही रूप का विस्तार सबको माना है—

कोसलाधीस जगदीश जगदेकहित,
अमित गुन विपुल विस्तार लीला।
गायन्ति तव चरित सुपवित्र स्रुति सेष सुक,
सम्भु सनकादि मुनि मननसीला॥
वारिचर-वपुष धरि भक्ति-निस्तार पर,
धरनि कृत नाथ महिमाति गुर्वी।
सकल जग्यांसमय उग्र विग्रह क्रोड़,
मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी॥
कमठ अति विकट तनु कठिन पृष्ठोपरी,
भ्रमत मंदर कंडु-सुख मुरारी।
प्रगटकृत अमृत, गो, इन्दिरा, इंदु,
वृन्दारकावृन्द आनन्दकारी॥
मनुज-मनि-सिद्ध सुर-नाग-त्रासक दुष्ट,
दनुज द्विज-धर्म-मरजाद-हर्त्ता।
अतुल मृगराज-बपु धरित, बिहरित अरि
भक्त प्रह्लाद-अह्लाद-कर्त्ता॥
छलन बलि कपट बटुरूप बामन ब्रह्म,
भुवन पर्जंत पद तीन करनं।
चरन-नख-नीर त्रैलोक-पावन परम,
विबुध-जननी-दुसह-सोक-हरनं॥
छत्रियाधीस-करि-निकर-वर-केसरी,
परसुधर विप्र-ससि-जलदरूपं।
बीस भुजदंड दससीस खंडन चंडवेग
सायक नौमि राम-भूपं॥
भूमिभर-भार-हर प्रगट परमातमा,
ब्रह्म नररूपधर भक्त हेतू।
वृष्णि-कुल-कुमुद-राकेस राधारमन,
कंस-बंसाटवी धूमकेतू॥

प्रबल पाखंड महि-मंडलाकुल देखि,
निंद्यकृत अखिल मख-कर्म-जालं।
सुद्ध बोधैक घनग्यान गुनधाम,
अज बौध-अवतार बंदे कृपालं॥
कालकलि जनित मलमलिन मन सर्वनर
मोह-निसि-निबिड़जमनांधकारं।
विष्णुजस पुत्र कलकी दिवाकर उदित,
दासतुलसी हरनविपतिभारं॥
—विनय-पत्रिका, ५२

इस पद में मत्स्य, बाराह, कूर्म, नृसिंह, बामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध की स्तुति के साथ-साथ कल्किअवतार का भी आभास दे दिया है। कुछ लोगों के मत से बौद्धमत नास्तिक मत है, किन्तु ऐसा नहीं है। स्वयं बुद्ध भगवान् ने कहा है कि—'आत्मा ब्रह्म का अंश है, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा स्वरूप है।' भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने बुद्ध भगवान् का स्मरण बड़ीही श्रद्धा एवं प्रेमास्पद विशेषणों के साथ किया है। यह उनकी उदारता का परिचय है।

वैदिक देवताओं में उनकी विशेष श्रद्धा न थी। उनके द्वारा राम की स्तुति कराई गई है। लेकिन स्मृति और पुराण में आए पंच की ओर उनकी श्रद्धा अवश्य थी। यही कारण है कि 'विनय-पत्रिका' में उन्होंने गणेश, सूर्य, पार्वती, शिव आदि की स्तुतियाँ की है। इसमें उनकी विशेषता यह है कि इन देवताओं की स्तुति करते हुए भी राम की भक्ति के लिए ही याचना की गई है :—

माँगत तुलसिदास कर जोरे।
बसहु रामसिय मानस मोरे॥ (गणेश स्तुति)
वेद-पुरान प्रगट जस जागै।
तुलसी राम-भगति बर माँगै॥ (सूर्य-स्तुति)
देहु कामरिपु रामचरन रति (शिव-स्तुति)
देहि मा, मोहि प्रन प्रेम यह नेम निज,
रामघनश्याम तुलसी पपीहा। (देवी-स्तुति)

देहि रघुबीर पद-प्रीति निरभर मातु,
दासतुलसी त्रास हरणि भव भामिनी। (गंगा-स्तुति)
मंगल–मूरति मारुत–नन्दन।
सकल अमंगल-मूल-निकन्दन॥
मातु-पिता गुरु गनपति सारद।
सिवा समेत संभु, सुक नारद॥
चरन बंदि बिनवौं सब काहू।
देहु रामपद—नेह—निबाहू॥ (सर्वदेव-वन्दना)

—विनय०, ३६

(६) शील-साधन और भक्ति

गोस्वामी जी ने 'विनय' में 'शील' और 'भक्ति' के नित्य सम्बन्ध को बड़ी ही भावुकता के साथ दिखलाया है। उनका कहना है कि हे राम! यदि आप को हम से बात-चीत करने में संकोच न हो तो मुझे मन ही मन अपना लीजिए—

प्रन करि हौं हठि आजु तें राम-द्वार परयौ हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबरयो हौं॥
प्रगट कहत जौं सकुचि ये अपराध भरयो हौं।
तौ मन में अपनाइये, तुलसिहि कृपा करि कलि विलोकि हहरयो हौं॥

—विनय०, २६७

पुनः निवेदन करते हैं कि आपने हमें अपना लिया कि नहीं, इसके लिए मेरे पास कसौटी है उसके आधार पर मुझे ठीक-ठीक पता चल जायगा कि आपने मुझे अपना लिया। देखिये—

तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि-लाभ दुख-सुख सबै सम चित हित अनहित-
कलि कुचाल परिहरिहै॥

—विनय०, २६८

कहते हैं कि जब कलि की सब कुचालें छूट जाँयगी और बुरे कर्मों से मुख मोड़ लूँगा, तब समझूँगा कि मुझे आपकी भक्ति मिल गई। जिस भक्ति से ऐसी दशा नहीं होती है वह भगवान् की भक्ति नहीं कही जा सकती है। गोस्वामी जी तो अपनी 'श्रुति-सम्मत' हरि-भक्ति के लिये यह लक्षण बतलाते हैं—

प्रीति राम सों, नीति-पथ, चलिय राग रिसि जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

शील को वे हृदय की वह स्थायी स्थिति मानते हैं जिससे सदाचार की प्रेरणा अपने आप मिलती रहती है। सदाचार का प्रवर्तन ज्ञान द्वारा हुआ है अथवा भक्ति द्वारा, उसकी कसौटी यह है कि ज्ञान द्वारा प्रवर्तित सदाचार बड़ा ही कष्ट साध्य होता है किन्तु भक्ति द्वारा प्रवर्तित सदाचार का अनुष्ठान बड़े ही आनन्द से होता है। इसका सम्बन्ध हृदय से होता है। कर्त्तव्य और शील का वही आचरण सच्चा है जो आनन्द पूर्वक प्रसन्नता के साथ हो। शील द्वारा प्रवर्तित सदाचार सुगम भी होता है।

तुलसीदास जी की शील-समन्वित भक्ति वह है जिसके संचार होते ही अन्तः करण बिना प्रयास ही शुद्ध हो जाता है। सब तरह का मल अपने आप धुल जाता है। अन्तः करण की शुद्धि के सम्बन्ध में उनका यहाँ तक कहना है कि बिना भक्ति के नहीं हो सकती है। उनका कहना है—

नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे।

× × ×

राम चरन-अनुराग-नीर बिनु अतिमल नास न पावै॥

विनय०, ८२

इसी आधार पर उनका यह भी मत है कि शील भक्ति की प्रेरणा से उच्चतम हो जाता है और मनुष्य को सन्तों की श्रेणी में पहुँचा देता है।

कवित्व एवं विनय-पत्रिका

वेद में भगवान् को भी कवि कहा गया है यथा—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भुः' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक महाकाव्य है और इसका रचयिता एक महाकवि है, जिसकी रचना में कहीं किसी प्रकार का दोष नहीं पाया जाता है। सृष्टि का सौन्दर्य ही काव्य है। संसार को वेदों ही से ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक शिक्षाएँ प्राप्त हुई हैं और उसी से कवित्व की भी प्राप्ति हुई है। वैदिक ऋचाओं को समझने में संस्कृत के गण्यमान विद्वान् भी उसकी शैली को न जान सके। उसकी सम्यक् जानकारी के लिए उसके वास्तविक तथ्यों को जानना पड़ा, उसके बाद ही कुछ पहुँच हो सकी। काव्य-कल्पना के मर्म में ही काव्योचित आनन्द है। इसके ज्ञान के लिए किसी भी काव्य की गति को जानना आवश्यक हुआ करता है। कवि की अन्वीक्षण-शक्ति में वैचित्र्य भरा रहता है। संसार में प्रतिपल होने वाली अगणित घटनाओं का ज्ञान सामान्य जगत को नहीं होता किन्तु कवि की पारगामी दृष्टि से वे छिपी न रह कर काव्य का रूप धारण कर लेती हैं और जन साधारण में चमत्कार का विषय बन जाया करती हैं। यहाँ तक कि यदि आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण का प्रणयन न किया होता और गोस्वामी तुलसीदास जैसे लोक-मंगलाशा के वरेण्यतम महाकवि 'रामचरित मानस' जैसे महाकाव्य की रचना न किये होते, तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम चन्द्र जैसे मानव समाज के प्राण को आज हम जान और समझ पाते, इस में भी सन्देह है। कवि ही किसी युग के प्रतिनिधि हुआ करते हैं। वे जो कुछ लिखते हैं उससे उनके युग की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का परिज्ञान होता है। इस प्रकार वे इतिहासकार का भी काम करते हैं। तुलसीदास जी ऐसे ही उच्चतम कोटि के कवियों में आते हैं, जिन में एक कुशल कवि के सभी गुण पाए जाते हैं।

किसी कवि अथवा काव्य के सम्बन्ध में जानने के पूर्व हमें उसकी गति-विधि को समझ लेना तो आवश्यक ही है किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि उसके समय में देश की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृतितियों को जान लें। लेकिन कवित्व की परख के लिए काव्य के लक्षणों और पक्षों पर प्रकाश डालना भी अपेक्षित है, इसकी उपेक्षा करने से हम किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं।

काव्य किसे कहते हैं, इसके सम्बन्ध में विभिन्न साहित्य-शास्त्रियों के मत नीचे दिये जा रहे हैं—

१—'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' (साहित्य दर्पण-कार)

२—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' (रसगंगाधर)

३—'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यमित्याह।'

—श्रीवाग्भट्ट।

४—'अदोषौ सगुणौ सर्वत्रसालङ्कारौ क्वचित्स्फुटालंकारावपिशब्दार्थौ काव्यमिति।'—श्रीमम्मटाचार्य।

५—'रसान्वितमलङ्कारैरलङ्कृतं निर्दोषं गुणवत्कवेः कर्मकाव्यमित्याह।'

श्री भोज।

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्य रस से युक्त, अलंकारों से विभूषित, सभी दोषों से मुक्त तथा गुणयुक्त कवि-कर्म को काव्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त वाक्य-रचना के लिए यह आवश्यक है कि वह योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो। शब्दों में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का समावेश यथोचित कुशलता और पाण्डित्य के साथ होना चाहिये। कहाँ वाच्यार्थ, कहाँ लक्ष्यार्थ तथा कहाँ व्यंग्यार्थ का प्रयोग होना चाहिए, इसपर ध्यान होना चाहिये। इसके संतुलन में अन्तर नहीं पड़ना चाहिये। काव्य के अंग अर्थात् काव्य-भाव, छन्द, अलंकार और रस का भी पूरा निर्वाह होना आवश्यक बतलाया गया है। यदि समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाय तो गोस्वामी तुलसीदास ने इन सभी विषयों पर साधिकार सम्यक् प्रकाश डाला है, जिसके कारण सभी समीक्षक उन्हें कवि-कर्म में श्रेष्ठतम मानते हैं। यहाँ हम उनकी अनुपम कीर्ति 'विनय-पत्रिका'

की रचना पर विचार करना चाहते हैं। इसी अवसर पर काव्य के दो पक्ष भाव और विभाव (कलापक्ष) को समझना चाहते हैं। भावपक्ष काव्य का आत्मा और विभावपक्ष शरीर माना जाता है। अन्योन्याश्रित होते हुए भी भावपक्ष की प्रधानता है। इसमें भी अनुभूति, जिसका सम्बन्ध सीधे हृदय से है और अधिक प्रभावोत्पादक है, श्रेयस्कर है। कल्पना तो मस्तिष्क की सामग्री मानी जाती है, जिसका प्रभाव क्षणिक होता है। रही बात विभावपक्ष की, उसमें छन्द, अलंकार, पिंगल, भाषा-शैली, गुण (ओज प्रसाद, माधुर्य) का होना अपनी रीतियों के अनुसार आवश्यक है। महाकवि सूर ने अपने पदों में अनुभूति की एकांगी धारा बहाकर भावुक हृदय को यदि आत्मविभोर किया है तो हमारे भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी 'विनय-पत्रिका' में अनुभूति और कल्पना की गंगा-यमुना के साथ कला-पक्ष-गति-दायनी सरस्वती की निर्मल धारा मिला कर त्रिवेणी में अवगाहन एवं रसास्वादन का सुलभ सुयोग उपस्थित कर दिया है, जिसे 'विनय' के अध्येता ही जानते हैं। संस्कृत साहित्य के—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्'

नैषधे (दण्डिनः) पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥' के अनुसार गोस्वामीजी की 'विनय-पत्रिका' में माघ जैसा पाण्डित्य मिलता है। उपमा, अर्थ-गौरव और पद का लालित्य तीनों अपने पूर्ण विकास को प्राप्त है। इन सबसे अधिक प्रधानता भक्ति-रस की है, जिसमें तुलसी ने निष्कपट भाव से अपना सारा मानस ही रिक्त कर उसे आप्लावित कर दिया है, जो अनन्तकाल तक अमरता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। हृदय को हृदय ही आकृष्ट करता है, वह इसमें भर दिया गया है। देखिये तो सही—

'विनय-पत्रिका' दीन की, बापु ! आपु ही बाँचो।

इतना खुला हृदय तुलसी के अतिरिक्त और किसका है?—किसी का नहीं। इसी के आगे—

'हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो।'

उधर 'बापु ! आपुही बाँचो' में कितनी करुणा भरी है, इधर 'हिये हेरि तुलसी लिखी' से स्पष्ट है कि हृदय को भलीभाँति खोज कर, टटोल कर बार-बार

अनेक विधि से सोच-समझ कर बिना कुछ छिपाये 'विनय' में सब अन्तर एवं बाह्य परिस्थितियों-वृत्तियों को लिख दिया है और यदि कुछ शंका हो तो पुनः अपने पंचों से पूँछ लीजिए। आपने यदि मुझे अपना बनाया है तो मैं यह भी नहीं चाहता कि अपने न्यायालय के नियमों के विरुद्ध कोई निर्णय दें, यदि सर्वसम्मति से मैं निर्दोष हूँ, तब मेरे पक्ष में आपकी दया हो।

'नाम की ओट लै पेट भरत हौं, पै कहावत चेरो।' २७२।
लाज न आवत दास कहावत।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत ॥ १८५ ॥

इन सब पदों में अनुभूति का भाव भरा हुआ है। कहीं किसी प्रकार का कपट व्यवहार नहीं है।

उक्ति-वचित्र्य तथा अर्थगौरव के लिए 'विनय' में अनेक पद मिलते हैं। देखिये—

'तुलसिदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन 'उरग-रिपु-गामी।'

तुलसीदास जो संसार के मायाजाल रूपी सर्पों से व्याकुल हैं, इसलिए ऐसे भगवान से याचना कर रहे हैं जो सर्पों के शत्रु पक्षिराज गरुड़ पर चढ़कर भक्तों की पुकार पर दौड़ने वाले हैं। व्यंजना से यह अर्थ निकलता है कि यदि आप न आ सकें तो अपने वाहन ही को भेज दें, उसी से मेरा कष्ट दूर हो जायगा। इस प्रकार व्यंजना से युक्त काव्य की गणना उत्तम काव्य में होती है; 'विनय-पत्रिका' इससे भरी पड़ी है। कतिपय उदाहरण और देखिये :—

भूषन प्रसून बहु विविधि रंग। नूपुर किंकिनि कलरव विहंग ॥१॥
कर नवल बकुल पल्लव रसाल। श्रीफल कुच कंचुकि लताजाल ॥
दीनबंधु ! दीनता दरिद्र दाह दोष दुख दारुन दुसह दर दरपहरन ॥२॥
गल कंबल बरुना बिभाति जनु लूम लसति सरिता-सी ॥३॥
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा-सी ॥
पर-दुख दुखी सुखी पर-सुखते, संत-सील नहिं हृदय धरौं ॥४॥
देखि आन की विपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥

जेहि कर-कमल कठोर संभु धनु भंजि जनक संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो ॥५॥

इन पदों में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य सभी गुण स्वतः आ गए हैं साथ ही अनुप्रासों की भी मोहिनी छटा देखने को मिलती है। भाषा भावों की स्वयं अनुगामिनी दिखाई देती है। रूपकों का भी सुन्दरतम सामंजस्य दिखाया गया है। किन्तु इसकी वास्तविक छटा पद संख्या २२, ५८ और ५६ में अधिक देखने को मिलती है यों तो यत्र-तत्र सर्वत्र 'विनय' में रूपक मिलते हैं। यथा—

'वपुष ब्रह्माण्ड, सुवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज-मय रूपधारी।
बिबिध कोसौघ अति रुचिर मंदिर निकर, सत्वगुन प्रमुख त्रैकटककारी॥
—विनय०, ५८

प्रबलऽहंकार दुरघट महीधर, महामोह गिरिगुहा, निविड़ांधकारं।
चित्त बेताल, मनुजादमन, प्रेतगन रोग, भोगौघ वृश्चिक बिकारं॥
विनय०, ५६

यमक और श्लेष का नितान्त अभाव है उसकी रुचि रखने वालों को इससे तुष्टि नहीं मिल सकती है। इन सब अलंकारों को व्यर्थ और सौंदर्य में बनावटी रूप के समावेश के आक्षेप से अपनी कविता-कामिनी की पावनतम मूर्ति को बचाने के लिए ही तुलसीदास ने प्रयोग में लाना अनुचित समझ कर उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर समझा। 'विनय' में भावों, अलंकारों, रसों आदि का कहीं भी अभाव नहीं है।

कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान।
उर बसि प्रपंच रचे पंचबान॥
तथा—
देखो देखो, बन बन्यो आज उमाकंत।
मानो देखन तुमहिं आई रितु बसंत॥

उपर के पदों में रूपक का कैसा चमत्कार है, साथ ही—'बावरो रावरो नाह भवानी।' में किस कोटि की व्याजस्तुति पाई जाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हृदय का सच्चा उद्गार होने के कारण 'विनय-पत्रिका' के पदों में विचित्र लालित्य और मनमोहक आकर्षण है। यदि उसमें कहीं समास की बहुलता एवं अलंकारों की अटूट शृंखला है तो

कहीं कोमलकान्तपदावली की मधुरता का आप्लावन सा है। पदों में क्लिष्टता होते हुए भी भावों का लोप नहीं हुआ है। अनेकानेक रागों और रागिनियों के अनुसार रचे गए पदों में साहित्यिक-सौन्दर्य के साथ संगीत का भी पूरा आनन्द मिलता है। जितने संगीत-प्रेमी हैं, सभी इसे समादर के साथ अपना कर अपने जीवन को सफल समझते हैं। जिन लोगों की धार्मिक-वृत्तियाँ हैं वे इनमें से चुने हुए मुख्य-मुख्य पदों को कंठस्थ कर उसे जीवन में उतार लिए हैं। ग्रामों में तो याचक वर्ग भी सामान्य रूप से—'केशव, कहि न जाय का कहिये।' का प्रसिद्ध पद गाता रहता है, उसी प्रकार 'अब मैं तोहिं जान्यो, संसार।' तथा 'हे हरि यह भ्रम की अधिकाई; आदि पद विचारकों एवं मननशील व्यक्तियों के लिए वेदान्त के किसी गूढ़ातिगूढ़ सिद्धान्त से कम महत्त्व नहीं रखते हैं। जो पद जिस रागिनी में गाया जा सकता है उस की रचना में उसका पूरा ध्यान रख कर गोस्वामी जी ने ताल-स्वर का भी उचित मिश्रण किया है। कहीं किसी प्रकार की त्रुटि नहीं पाई जाती है। यही कारण है कि संगीत-कला-पारखी आचार्य तुलसीदास जी को संगीताचार्य की भी कोटि में स्थान देते हैं और उनके पदों को गाकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं। एक तो राम का गुणगान दूसरे संगीत जिसका श्रवण कर पशु-पक्षी तक मंत्र-मुग्ध हो जाया करते हैं। भला जिन महात्मा को मानव समाज में आमूल सुधार कर उसे सन्मार्ग पर लाना था, वे भला उसकी आवश्यकताओं में इस अभिन्नतम अंग की पूर्ति क्यों न करते। क्यों कि—

'साहित्य-संगीत कला विहीनः
साक्षात्पशु पुच्छ-विषाण हीनः।'

के अनुसार साहित्य और संगीत की इस पूर्ति का ध्यान तुलसी जैसे सुधारक, विचारक के मस्तिष्क में क्यों न रहता जब कि उसने अपने समस्त जीवन की ही आहुति समाज-सेवा में अर्पित करने का व्रत लिया था और किया भी वैसा ही।

'विनय-पत्रिका' में तुलसी की रचना प्रायः सभी स्वानुभूति-निरूपिणी (Subjective) है। इसका एक मात्र कारण यह है कि उन्होंने अपनी दशा का निवेदन किया है। स्थान-स्थान पर अपनी प्रतीति, अपनी भावना एवं अपनी अनुभूति को स्पष्ट रूप से 'अपनी' कहकर प्रकट किये हैं, जैसे—

संकर साखि जौ राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहिं तें तुलसिहि समुझि परो ॥१॥
नाहिंन नरक परत मोकहँ डर यद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो ॥२॥
माधव जू! मो सम मन्द न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीन मति, मोहि नहिं पूजैं ओऊ ॥३॥
ऐसहु साहब की सेवा सों होत चोर रे।
आपनी न बूझ, न कहै को राँड रोर रे ॥४॥
नैन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे ॥५॥
कछु न साधन सिधि, जानौं न निगम विधि,
नहिं जप तप बस मन न समीर।
तुलसिदास भरोस परम करुना-कोस,
प्रभु हरिहैं विषम भव-भीर ॥६॥

लेकिन यहाँ यह स्मरण रखना है कि गोस्वामी तुलसीदास की अनुभूति सबसे अलग नहीं है। 'विनय-पत्रिका' में कलि की करालता से उत्पन्न जिस प्रकार की भीषणता का वर्णन किया गया है, उससे उस समय का सारा मानव समाज ही अभित्रस्त था। सभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। केवल तुलसीदास ही उससे दुःखी और पीड़ित नहीं थे। ठीक इसी प्रकार अपनी दीनता, असहायता का जो चित्रण किया है, वह समस्त लोक के लिए चरितार्थ है। जिस प्रकार के पापों का जमघट इस संसारी जीव को कहा गया है वह प्रत्यक्ष रूप से तो तुलसीदास के लिए जान पड़ता है किन्तु उसका आभास मानव-मात्र में पाया जाता है। 'जगु जागु जड़ जीव' केवल अपनी आत्मा के लिए ही तुलसी ने उद्बोधन नहीं दिया है। वे उस समय के सभी मायाजाल में फँसे भ्रमित मानव-समाज विशेष कर हिन्दू जाति के लिए चेतावनी दे रहे थे। कवि अपने वाह्य जगत का जो वर्णन अपनी अनुभूति के आधार पर करता है, वह भी उसकी स्वानुभूतिनिरूपिणी विचारधारा ही हुई। इस प्रकार 'स्वानुभूति निरूपक'

तथा 'वाह्यार्थ निरूपक' में जो भेद है वह केवल स्थूल-दृष्टि ही से है। जिस अनुभूति की व्यंजना को समाज अपना समझता है तथा अपनी अनुभूति के मेल में पाता है, वास्तव में वही काव्य है। इसलिए ऐसी स्वानुभूति निरूपिणी रचना कवि की स्वयंबीती न होकर जगबीती भी हो जाती है। इस प्रकार 'विनय-पत्रिका' कहने के लिए तो तुलसी का राम के दरबार में आत्म-निवेदन है किन्तु यदि उपर्युक्त विचारधारा के अनुसार देखा जाय तो यह प्रत्येक भक्त हृदय का आवेदन-पत्र है। यह तुलसी के कवि-कर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण चमत्कार है।

गोस्वामीजी ऐसी रचना को निरर्थक समझते थे जिसका प्रभाव कवि-हृदय के अनुकूल ही श्रोता या पाठक पर न पड़े। वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव दोनों की पूर्णता को आवश्यक समझते थे। जिस रचना में यह विशेषता न हो वह सुन्दर नहीं मानी जा सकती न उसका समादर ही अनन्त काल तक हो सकता है। गोस्वामीजी ने अपने समय की लोक-रुचि का पूर्ण अध्ययन करके, इसके अनुरूप ही रचना का प्रयास किया था।

गोस्वामीजी की अभिरुचि अतिरंजित या प्रगीत के स्वरूप की ओर न थी। तुलसी ने व्यर्थ के आडम्बर का सर्वदा अपनी रचनाओं में परित्याग किया है। इन्होंने पाठक को ऐसे भावालोक में पहुँचाने का प्रयास किया है, जहाँ खड़ा होकर वह जीते-जागते विश्व की रूपात्मक एवं क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्ति की आत्मा का परिज्ञान कर सके। 'विनय-पत्रिका' में हमें इस कला का अनन्यतम प्रकाशन मिलता है, जिसे तुलसी-दास जी की आध्यात्मिक देन का रूप दिया जा सकता है।

भाषा

तुलसीदास जी का जीवन अनुभव का मूर्तिमान् स्वरूप था। कहने को तो उन्होंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में 'स्वान्तः सुखाय' कहा है किन्तु वही उनकी आत्मबीती आज जगबीती के रूप में शीर्षस्थान पर है। उन्हें अपने समय के समाज का प्रतिनिधित्व करना था यही कारण है कि दीर्घ काल तक देश-देशान्तर का भ्रमण करने के बाद सामाजिक और धार्मिक अनुभव द्वारा उन्होंने जिस प्रकार अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों में समन्वयवादीदृष्टिकोण रक्खा है, ठीक उसी प्रकार उनकी रचना में भाषा का भी दृष्टिविन्दु है। देशाटन का ही प्रभाव है कि उनकी रचनाओं में अवधी, बुन्देलखण्डी, संस्कृत और ब्रज आदि विभिन्न भाषाओं के शब्दों का मोहक सम्मिश्रण मिलता है। गोस्वामी जी के पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों का प्रतिभा भाषा के सम्बन्ध में एकांगी थी। सूर जैसे महा कवि भी केवल ब्रजभाषा पर ही अधिकार प्राप्त कर सके थे। जायसी न ब्रजभाषा में लिख सकते थे और न सूर अवधी में। किन्तु धन्य है भारत-हृदय, भारतीकंठ भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास, कि जिनका ब्रज-अवधी दोनों पर समान अधिकार था। यही नहीं पूर्ण अधिकार था। भाषा स्वयं इनकी अनुगामिनी थी। ओज, प्रसाद और माधुर्य सभी गुणों से समन्विता प्रवाहमयी, कोमल कान्त पदावली-सुविभूषितानेकार्थगौरवान्विता एवं उपमा-उपमेयालंकृता भाषा के तो ये वरेण्य वर थे। यदा कदा संस्कृत गर्भित होती हुई भी भाषा सुबोधगम्य थी, भावों को दुरूहता का समावेश न था। उद्भट विद्वान् तथा सर्व साधारण सभी के हितों का सुयोग, महाकवि ने अपनी लोकमंगलाशा को भावना के वशीभूत होकर साहित्य एवं सौहित्य दोनों के रसास्वादन के लिए अनायास ही कर दिया है। यही कारण है कि आज समस्त विश्व के भाषा-शास्त्री इन्हें उच्चतम स्थान देने में रंचमात्र भी संकोच न समझ कर गौरव समझ रहे हैं। निरर्थक शब्दों

का प्रयोग तो भूलकर भी कहीं पर नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त किसी शब्द विशेष ही को किसी स्थान पर रक्खा जा सकता है। यदि उसे किसी कारण से पाठान्तर कर दिया गया है तो वहाँ भाव-अर्थ दोनों ही में महान् अन्तर पड़ गया है। इस सम्बन्ध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार का निर्वाह तुलसीदास की शब्दार्थ-भाव वाहिनी परम्परा में हुआ है।

'विनय-पत्रिका' की भाषा अर्थ-गौरव से भरी हुई है। आरम्भ के ६१ पदों में तो महा साधक ने अपने पाण्डित्य का वह चमत्कार दिखाया है, जिसे देख बड़े-बड़े संस्कृतज्ञ-दार्शनिक झख मारते हैं। ये पद क्लिष्ट होते हुए भी सुबोध हैं। इसके बाद के पदों की भाषा बहुत ही चलती हुई और मुहाविरेदार भी है। इनकी भाषा में अरबी फ़ारसी के भी शब्द कुछ मिल गये हैं किन्तु वे इतने घुल-मिल गए हैं कि खटकने वाले नहीं हैं। वे सभी शब्द स्वयमेव भाषा के प्रवाह के साथ आ गए हैं। इसका एक कारण यह भी है कि उस समय वे शब्द जनसाधारण की बोलचाल में प्रचलित थे और जैसा कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी का महान् उद्देश्य जन-साधारण का हित-चिन्तन था, जिसका उन्होंने सदा ध्यान रक्खा है, अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण उन शब्दों को अपनाने में किसी प्रकार का छूत-छात अथवा संकोच नहीं किया है। कुछ उदाहरण उनकी उत्कृष्ट भाषा का नीचे दिया जा रहा है अवलोकन एवं अवगाहन कीजिए—

कोक कोकनद लोक-प्रकासी। तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी॥ २॥
अहि भूषन, दूषन-रिपु-सेवक, देव-देव त्रिपुरारी।
मोह निहार-दिवाकर संकर, सरन-लोक-भय हारी॥ ६॥
अतुलित बल मृगराज-मनुज-तनु दनुज हत्यो स्रुति साखी॥ ६३॥
भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललाम को।
तुलसी जग जानियत नाम ते सोच न कूच मुकाम को॥१५६॥
झूठे साँचे आसरो साहब रघुराइ मैं॥२६१॥
सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु,
सुमिरत होत कलिमल-छल-छीनता।

करुनानिधान ! बरदान तुलसी चहत,
सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता ॥२६९॥
राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ॥२६९॥
अपराधी, तऊ आपनो तुलसी न बिसारिये ।
टूटियो बाँह गरे परै, फूटे हूँ बिलोचन पीर होत हित करिये ॥
—विनय०, २७१

द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ ॥२७५॥
'विनय-पत्रिका' दीन की, बापु ! आपु ही बाँचो ।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो ॥
—विनय०, २७७

इस प्रकार विविध प्रकार के प्रयोगों का रसास्वादन जैसा 'विनय-पत्रिका' में अनायास ही कवि की सहज लेखनी से निःसृत पदों में मिलता है, अन्यत्र असम्भव ही है ।

अब कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों को बोलचाल की भाषा में किस प्रकार जन-साधारण के लिए सरलता पूर्वक गेय पदों में दिया गया है, उसका अवलोकन करें—

राम राम रटु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा ।
राम-नाम-नव नेह-मेह को मन ! हठि होहिं पपीहा ॥६५॥
रामजपु, रामजपु, रामजपु, बावरे ।
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ॥६६॥
राम-नाम जपु जिय सदा सानुराग रे ।
कलि न विराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे ॥६७॥
जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग जामिनी ।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥७३॥

वाहरे ! भक्त शिरोमणि तुलसी ! इतने बड़े सिद्धान्त को इतनी सरल भाषा में, जिसे शंकराचार्य इस रूप में जीव को जाग्रत करने के लिए दिये हैं—

'माता नास्ति, पिता नास्ति, नास्ति बंधुः सहोदरः ।
अर्थन्नास्ति गृहन्नास्ति, तस्माद् जाग्रत, जाग्रत ॥'

इसके अतिरिक्त तीन श्लोक उनके और भी हैं जो जीव को आत्मबोध कराने के लिए लिखे गये हैं। तुलसीदास भी उपरोक्त पद में ही तीन पद और दिए हैं। पुनः और उदाहरणों को देखें—

मोह जनित मल लाग विविधि विधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥
—विनय० ८२

नाचत ही निसि-दिवस मरयो।
तबही तें न भयो हरि! थिर जबतें जिव नाम धरयो॥
—विनय०, ९१

माधव मोहपास क्यों टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै॥
× × × ×
बिन विवेक संसार-घोर-निधि, पार न पावै कोई॥
—विनय०, ११५

बस एक और चलती हुई भाषा तथा साथ ही कँहरवा, जिसे देख आप तुलसीदास जी की व्यापक दृष्टि को भी समझ सकते हैं कि भाषा के किन-किन अंगों पर उनका अधिकार था—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
× × × ×
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनकूला रे॥
—विनय०, १८९

यह तुलसीदास की ही प्रतिभा है कि बोलचाल की ग्रामीण भाषा में वेदान्त के इतने ऊँचे सिद्धान्त का निदर्शन हुआ है। इनके वाक्यों में कहीं भी शिथिलता नहीं आई है, कोई भी शब्द पद की पूर्ति के दृष्टिकोण से भी निरर्थक नहीं रक्खा गया है। एक ही पद में बहुत सी बातों को कह जाना इनकी अपनी कला है। व्याकरण तथा वाक्यरचना का पूरा निर्वाह मिलता है। कहीं किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं है, यदि कहीं कोई है भी तो उसका दोष गुसाईं जी को नहीं है। कालक्रम से पाठान्तर होने का प्रतिफल है।

पर्यवेक्षण

भव-बन्धन से मुक्ति-मार्ग के शोधक विमल मनस्वी।
सुधा-सरिस अतिसरस विनय-पद तूने दिया यशस्वी॥
तेरा अन्तिम दान जगत को शान्ति-दान पावन देता।
भक्ति-मार्ग का यह अभिन्न पथ जगत-जन्य दुख हर लेता॥
"मानव" मन को है दे रही, 'विनय-पत्रिका' शशि-कला।
शमन-दमन चिन्तादि का; होगा जिससे नित भला॥

सौन्दर्य-शक्ति-शील-समन्वित आदर्श चरित-नायक मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम-चन्द्र जी के जीवन सम्बन्धी विभिन्न पार्श्वों पर अपनी लोक-हितकारिणी—समन्वयात्मिका दृष्टि से रामचरितमानसादि विविध ग्रन्थरत्नों में अनेक प्रकार से सम्यक् प्रकाश डालने पर भी आध्यात्मिक तुष्टि न प्राप्त होने के कारण भारत-भारती-कंठहार कविकुल कमल-दिवाकर भक्तशिरोमणि तुलसीदास जी के विमल-मन-मानस से भक्ति-रस-प्रस्विनी 'विनय-पत्रिका' स्वरूपिणी भगवती भागीरथी का आविर्भाव, असंख्य पापाति-पाप कर्मों से भस्मीभूत सगर-सुवन सरिस भक्त जनों तथा सामान्य उपासक-उपासिकाओं के तरन-तारन हित हुआ, जिसकी परम-पावन धारा में अवगाहन कर सबके पाप का परिमार्जन होता चला जा रहा है और मिलती जा रही है चिर-शान्ति, जिसे प्राप्त कर सहज ही में सबका उद्धार हो रहा है। इस 'विनय-पत्रिका' पर जब इष्ट देव लोक-रंजन भक्त-हृदय-दुःख-भंजन विश्व-सम्राट श्री रामचन्द्र जी की स्वीकृति मिल गई, तब जाकर कवि-शिरोमणि भक्त-वर्य्य गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी लेखनी को विश्राम दिया। ये साहित्य-शास्त्र के अध्येता के साथ-साथ आध्यात्मिक कुरोग के भी अध्येता और निवारण-मंत्र-प्रदाता थे। 'विनय-पत्रिका' को लिखने में इन्होंने अपनी अद्भुत-शक्ति का प्रदर्शन किया है। इसमें भक्ति-रस-निरूपण के साथ सांसारिक शिक्षाओं का भी विचित्र वर्णन है। इस रचना में मानवीय मनोवेगों एवं अन्तः

करण की शुद्धातिशुद्ध प्रवृत्तियों-कुप्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मिलता है तथा उनसे मानव-समाज का कल्याण किस प्रकार होगा, इसका अकाट्य-समाधान भी इसमें दिया गया है।

यहाँ हम 'विनय' में दिग्दर्शित विषय-व्यापार का पर्यवेक्षण क्रमिक रूप से संक्षेप में करने जा रहे हैं :—

अब तक के अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि 'विनय-पत्रिका' की रचना तुलसीदास ने अपने समय में फैली हुई सामाजिक-राजनीतिक और धार्मिक उच्छृंखलताओं से मानव-मात्र विशेषतया हिन्दूसमाज के कल्याण को दृष्टि में रख कर स्वानुभूति निरूपिणी विचारधारा के अनुकूल विश्व-सम्राट एवं आदर्श लोक-नायक भगवान् रामचन्द्र जी की सेवा में आत्मा-निवेदन के रूप में की है। तुलसी की प्रबन्ध-पटुता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण 'रामचरित-मानस' के प्रणयन से मिल चुका है। इसके समकक्ष प्रबन्ध-काव्य किसी का नहीं हुआ है। इस लिए 'विनय-पत्रिका' भी अपनी इस कला के लिए प्रसिद्ध है। तुलसीदास जी को लोक-मर्यादा का जितना विशद् ज्ञान था उतना किसी भी विचारक में नहीं मिलता है। कहीं भी मर्यादा का उलंघन इनको सह्य नहीं हुआ है। यही कारण है कि इस रचना विशेष में उसका पूर्ण रूपेण निर्वाह किया गया है। सोचिये भला, एक सम्राट् की सेवा में प्रार्थना-पत्र भेजना है और इस आशा से कि उसपर सानुकूल स्वीकृति मिले, उसे साधारण ढंग से कैसे भेजा जा सकता है। इस बात को दृष्टि-पथ में रखकर गोस्वामी जी ने लोकाचार के अनुसार सर्व प्रथम गणेशजी की वन्दना की है, जो आदि-पूज्य देव हैं। इसके बाद अविद्यांधकार को दूर करने वाले भगवान् भुवनभास्कर सूर्यदेव की स्तुति करते हैं जो उचित ही था। पुनः संसार का कल्याण करने वाले देवादिदेव शंकर भगवान् की स्तुति है, जिनके सम्बन्ध में भगवान् राम का स्वयं कहना है कि—'शिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपने मोहिं न पावै।।' भला उन्हीं राम की सेवा में प्रार्थना-पत्र देना है और बिना शिव-स्तुति के भेजा जाता तो उसकी क्या गति होती। इसके पश्चात् कराल-कलि से अधिक अभित्रस्त होने के कारण उसे भयभीत करने के लिए काल-भैरव की आराधना की गई है।

चित्रकूट की घटना तुलसी के जीवन को गति देनेवाली थी और चित्रकूट स्वयं भी शान्ति-प्रदाता स्थान है। इसलिए उसका यशोगान आवश्यक समझ कर किया गया है। यह वर्णन अत्यधिक मोहक हुआ है। यहाँ से आगे तुलसी के परम सहायक श्री हनुमान जी की वन्दना प्रारंभ होती है। हनुमान जी से अपनी सम्पूर्ण अन्तर्वेदना का निवेदन कर दिया है, क्योंकि इनको वे अपना एकमात्र प्रतिनिधि समझते थे, साथ ही राम की सभा के ये प्रमुख सदस्य भी थे। लक्ष्मण जी को, राम का निकटतम स्नेही सदस्य समझकर, विशेष रूप से प्रसन्न करने के लिए प्रयास किया है। शत्रुघ्न तथा भरत जी का भी अभिवादन उचित रीति से किया है। इस प्रकार संसद के जितने मनोनीत सदस्य थे, सबको अपने पक्ष में कर लिया है। उनके समर्थन की आशा पूर्णरूप से प्राप्त कर चुकने के बाद जगत्-जननी माता जानकी जी से अपने सम्बन्ध में किसी उपयुक्त कारुणिक प्रसंग द्वारा श्री रामचन्द्र जी से अवसर देख कर परिचय देने तथा अपना दास बना लेने के लिए जिस प्रकार का निवेदन किया है वह देखते ही बनता है—

> कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
> मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥४१॥

हे माता! कभी सुअवसर प्राप्त कर एवं कारुणिक प्रसंग चला कर भगवान् को मेरी याद दिला देना। आपका मुझे बड़ा भरोसा है। किसी भी दीन-हीन-मलीन, अति तन-क्षीण की रक्षा करना आपके लिए साधारण सी बात है। मैं जानता हूँ कि आपके संकेत मात्र से मेरा भला हो जायगा और मेरी यह भी धारणा है कि रामजी आपकी प्रत्येक बात पर विश्वास करते हैं। इस लिए आपके कहने से उन्हें किसी प्रकार की शंका न होगी। हे माता! उनसे मेरा परिचय इस प्रकार देना कि—एक सब प्रकार से जर्जर काय, अति दीन, दुर्बल, सदा मैला-कुचैला रहने वाला, बड़ा भारी पापी आपका नाम लेकर पेट भरता रहता है और आपकी दासी का भी दास है। जब वे पूछेंगे कि वह कौन है? तब मेरे नाम और इस दशा को भली भाँति समझा कर कह दीजिएगा। आपके मुख से ऐसा रामजी के सुनते ही मेरा जितना जन्म-कर्म बिगड़ा हुआ है, सब

बन जायगा। वे हमें अपना बना लेंगे। हे जगत की माता जानकी जी, यदि आपकी इन बातों से इस दास की सहायता हो गई तो आपके स्वामी प्रभुवर राम की गुन-गाथा को गा-गाकर यह दास भव-सागर को पार कर लेगा। इस पद की रचना में विशेषता यह है कि सांसारिक दृष्टि से बालकों को अधिक अपराधों से मुक्ति पिता उसकी माता के कहने से दे देता है, जिसका अनुभव प्राय: सबको है। हाँ, इसमें यह आवश्यक है कि माता पिता के अनुकूल सभी भावानुभावों का ज्ञान रखने वाली तथा अवसर का परख करने वाली हो। नहीं तो कभी-कभी अनुपयुक्त समय में किसी-किसी बात का प्रभाव उल्टा हो जाता है। यही कारण है कि तुलसीदास जी माता की शरण में जाते हैं और दीन-दशा के निवेदन के लिए कारुणिक प्रसंग चलाकर प्रभु को अनुकूल करके ही कुछ कहने के लिए कहते हैं। इस प्रकार 'अंब', 'करुन', 'अवसर पाइ' आदि शब्दों का प्रयोग अपना महत्व रखता है। इसी प्रकार पद संख्या ४२ में भी जानकी जी की स्तुति की गई है।

पदसंख्या ४३ और ४४ में श्रीरामचन्द्र जी के चरित्र का वर्णन है। इसके बाद ४५ वें पद में श्रीरामजी की पुन: स्तुति है। यह क्रम ४८ वें पद तक चलता है। ४९ वाँ पद 'हरिशंकरी पद' है। इसकी विशेषता यह है कि इसके प्रथम पद्य में विष्णु की वन्दना और दूसरे में शंकर जी का गुणगान है। उससे तुलसी की शिव-विष्णु-एकता की भावना प्रकट होती है। ५० वें और ५१ वें पद में राम का गुण-गान है। ५२ वें में दशावतार-कथा का वर्णन जयदेव के 'गीत-गोविन्द' काव्य की अष्टपदी की छाया पर किया गया है। सर्वदेव-समन्वय-सिद्धान्त के निरूपण का यह ज्वलन्त उदाहरण है। ५३ से ६० तक राम की ही स्तुति चलती है। ६१, ६२ और ६३ में श्री बिन्दुमाधव की वन्दना की गई है। इसके बाद 'विनय-पत्रिका' का स्वरूप निखरा हुआ सबके सामने आता है। यहाँ से विनय की भूमिकाओं का पालन किया गया है। पदसंख्या ६४ में राम की अन्तिम वन्दना द्वारा मन को दृढ़ किया गया है।

वन्दौं रघुपति करुनानिधान। जाते छूटै भव-भेद ग्यान॥

× × ×

त्रैलोक-तिलक गुनगहन राम। कह तुलसिदास बिश्राम धाम ॥

मैं करुणा के समुद्र श्रीरामचन्द्र की बन्दना करता हूँ, जिससे संसार का भेद-ज्ञान छूट जाय और मेरे अन्दर 'यह मेरा है, यह तेरा है' का विभेद न रह जाय क्योंकि यह सर्वनाश का मूल है। रघुवंशरूपी कुमुदों के लिए चन्द्रमा के समान श्रीरामचन्द्र जी हैं, जिनके कमलवत् चरणों की आराधना शिव और ब्रह्मा किया करते हैं। वे परम दयालु भगवान् अपने भक्तों के हृदयकमल में भ्रमरों की भाँति निवास करते हैं तथा उनकी सुन्दरता असंख्य कामदेव से भी बढ़कर है। अज्ञान रूपी अंधकार को नाश करने के लिए वे सूर्य के समान प्रकाश वाले हैं तथा अविद्या रूपी वन को भस्मसात् करने के लिए साक्षात् अग्नि स्वरूप हैं। अहंकार के समान महोदधि को सोखने के लिए वे अगस्त्य ऋषि हैं और देवताओं को सुख देने वाले एवं पृथ्वी के भार को उतारने वाले हैं। रागादि रूपी सर्पों को भक्षण करने के लिए गरुड़ स्वरूप भगवान कामदेव रूपी हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने के लिए सिंह के समान मुरनामक दैत्य के शत्रु हैं। संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए उनके कमलवत् चरण ही दृढ़ नौका के समान हैं, वे स्वयं आनन्द के स्वरूप सीतापति हैं। श्रीहनुमानजी की प्रेम-बावली में बिचरण करने वाले हंस हैं तथा कामना रहित कामधेनु गौ के समान भक्तों पर दया करने वाले हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि वे भगवान श्री रामचन्द्र जी तीनों लोकों में तिलक के समान श्रेष्ठ, सर्वगुण सम्पन्न, चिर-शान्ति के देने वाले हैं। उनकी शरण में जाने ही से जीव को विश्राम मिल सकता है। इस पद में भगवान् के उन विशिष्ट गुणों की बन्दना की गई है, जिसके आधार पर तुलसीदास की मनोकामना पूर्ण होगी। इसीलिए 'जानकी-रमन' को ही 'आनन्दकंद' कहा है। बिना माता के प्रभु संपूर्ण आनन्द को देने वाले नहीं हो सकते क्योंकि माता सीता ही तो उनकी आह्लादिनी-शक्ति हैं। भव-भेद-ग्यान' को इसलिए छूटने की प्रार्थना करते हैं कि उनको इस 'विनय-पत्रिका' के द्वारा व्यक्तिगत अपना ही कल्याण नहीं करना था, उन्हें पूरा समाज-हित लेकर चलना था। इसलिए 'विनय' के विषय-प्रवेश से पूर्व अभि-वादन ही में इस विभेद को दूर करने की प्रार्थना कर लेते हैं, जिससे उनकी

निष्पक्षता में आक्षेप के लिए स्थान न हो। यह थी गोस्वामी तुलसीदास जी की लोक-मंगलाशा की भावना।

पद संख्या ६५ में—

'राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।

× × ×

तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं॥

मन को राम में रम कर रामनाम रट कर जिह्वा को राम-राम जपने के लिए कड़ी चेतावनी देते हैं जिससे मन को एकाग्रता प्राप्त हो तथा कहीं भी असंयमता का समावेश न हो सके क्योंकि भारतवर्ष जैसे विशालकाय विभिन्न मतावलंबी देश की अभित्रस्त मानवता के उद्धार के लिए आवेदन-पत्र लिखना है। किसी भी प्रकार का कोई विषय छूटना नहीं चाहिए तथा अपने हित की सब बात आ जानी चाहिए। राम की कृपा के लिए वे 'पपीहा'-नेम निबाहना चाहते हैं, क्योंकि—'चातक प्यासे ही मरै बिन स्वाती न अघाय।' यहाँ भी राम के सौंदर्य-शक्ति-शील की आवश्यकता है। बिना उनके कोई भी आदर्श कल्याण नहीं कर सकता। क्योंकि सभी का चरित्र एकांगी है।

इसके बाद पद संख्या ६६ से ६८ तक राम-राम जपने के लिए प्रसंग है। ६९ और ७० में विभिन्न गुणों से विभूषित राम के चरित तथा नाम का स्मरण करने के लिए अनेक यत्न बताए गए हैं। ७१ और ७२ में कहते हैं कि राम की सेवा से विमुख नहीं होना चाहिए क्योंकि वे तो मुझ जैसे विद्रोही की भलाई कर दिये है। भला मेरे जैसा पाखण्डी कौन होगा जो एक बार उन्हें पहिचान कर भी भूल जाता है, फिर भी शरण में जाने पर हित ही करते हैं। पद संख्या ७३ में जीव को सब तरह से चैतन्य हो जाने की शंकराचार्य की तरह से कड़ी चेतावनी दी गई है। इस पर आध्यात्मिक-सिद्धान्तों के निरूपण से पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है। इस पद की कड़ी चेतावनी से जगे हुए जीव को मधुर शब्दों द्वारा 'विभास' राग में पदसंख्या ७४ में उद्बोधन दिया गया है।

जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीव
जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्रीहरे !

× × ×

तुलसिदास प्रभु कृपाल निरखि जीवजन विहाल
भंज्यो भवजाल परम मंगलाचरे ॥

इसके पश्चात् शपथपूर्वक आत्मनिवेदन है। तथा सब तरह से आत्म-समर्पण का वर्ण्य-विषय प्रतिपादित है। पदसंख्या ७५, ७६ में यही क्रम है। ७७ में राम को ही अपना सर्वस्व माना है तथा यह कहते हैं कि हे भगवान, यह तुलसीदास आपका सेवक हो गया है। इसे आप अपने भक्तों की श्रेणी में रक्खेंगे कि अभी परीक्षण के लिए अलग रक्खेंगे ? तुलसीदास जी स्पष्ट करा लेना चाहते हैं क्योंकि वे तो सदा उनके कमलवत् चरणों की सेवा ही करना चाहते हैं। ध्रुव आदि भक्तों की गति प्राप्त कर अलग किसी लोक विशेष में नहीं रहना चाहते हैं।

पदसंख्या ७९ में आराध्यदेव की श्रेष्ठता की समता में जीव अपनी लघुता का उद्घोष करता है।

८० में उनका कहना है कि राम के अतिरिक्त कोई संकट टाल नहीं सकता, इसलिए दूसरे किसी की आराधना व्यर्थ है। इसी प्रकार पदसंख्या ८१ में कहते हैं कि यह संसारी-रोग अर्थात् जन्म-मरण एवं मानसिक कुप्रवृत्तियों का निरोध बिना राम की कृपा के नहीं हो सकता है। ८२ वें पद में तो इस प्रकार कह रहे हैं कि—

'रामचरन अनुराग नीर बिनु मलअति नास न पावै ॥'

इस काया में माया के जितने दोष विशेष हैं वे बिना राम के चरणों की आराधना के नहीं मिट सकते।

८३ वें पद में पश्चाताप है कि सारा जीवन व्यर्थ गया और कुछ सत्कर्म न हो सका।

८४ और ८५ में मन को डाँट-फटकार रामभजन के लिए प्रेरणा दी गई है।

८६ वें पद में ध्रुव की माता सुनीति से दिए गए वेदों के सार स्वरूप

'रामचरन-चिंतन' का दृष्टान्त दिया गया है। मन को इससे शिक्षा दी गई है कि ५ वर्ष की अल्पायु ही में ध्रुव ने राम-नाम-तप से परमपद प्राप्त किया।

८७ से ९० तक के पदों में 'विनय' की 'भर्त्सना' भूमिका के अनुसार मन को डाँट-फटकार कर भगवद्‌भक्ति की ओर प्रवृत्त किया गया है। जैसे—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।८७॥
कबहूँ मन विश्राम न मान्यो ॥८८॥
मेरो मन हरि जू हठ न तजै ॥८९॥
ऐसी मूढ़ता या मन की ॥९०॥

पदसंख्या ९० पर 'विनय' की भूमिका 'भर्त्सना' को समझाने के समय प्रकाश डाला जा चुका है।

पद संख्या ९१ से ९४ तक अपने अभिमान को छोड़ कर सब तरह से भगवान् की शरण ली गई है। यह स्थिति 'मान-मर्षता' की होती है। इसमें एक प्रकार से आमर्ष भी प्रकट किया गया है। देखिये :—

नाचत ही निसिदिवस मर्‌यौ।
तबहीं ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‌यौ ॥
× × ×
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यौ ॥९१॥
माधवजू मोसम मंद न कोऊ ॥९२॥
कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम ॥९३॥
काहे तें हरि मोहिं बिसारो ॥९४॥

पद संख्या ९४ पर प्रकाश डाला जा चुका है।

इसके बाद भक्त को विश्वास होता है कि भगवान् की कृपा उसके ऊपर हो गई है। वह अपने सब पाप कर्मों का निवेदन करता है और कहता है कि हे भगवान्, मेरे पास पुण्य रंचमात्र के लिए भी नहीं है, पापों का ही भण्डार है, वे भी इतने अधिक हैं कि यदि यमराज गिनने लगें तो और सब काम-धाम भूल कर उसी में निमग्न हो जायेंगे तथा सभी पापी अवसर पाकर भाग

निकलेंगे, इस प्रकार वे घबड़ा कर मुझे छोड़ देंगे। हे भगवान् चाहे जैसे हो, मुझे अपनाने ही से बनेगा। अब तो मैं शरण में आ गया हूँ। देखिये—

तऊ न मेरे अवगुन गनिहैं।

ज्यों त्यों तुलसिदास कौसलपति अपनायेहि पर बनिहै ॥९५॥

९६ से ९९ तक राम की बड़ाई करते हैं और यह दिखाते हैं कि संसार में अनेकशः पापी हुए हैं जिनको भगवान् ने शरण में आया हुआ जान कर नाम लेने से ही मुक्ति दी है। इसलिए यह विश्वास है कि मुझे (तुलसी को) भी मुक्ति मिलेगी।

सुनि सीतापति सील सुभाउ।

तुलसिदास अनयास राम पद पइहै प्रेमपसाउ ॥१००॥

सीतापति भगवान् रामचन्द्र जी के सरल स्वभाव को भी सुनकर जिसके मन में प्रसन्नता नहीं होती है तथा नेत्रों में प्रेमाश्रु नहीं आते हैं, वह निरर्थक ही इधर उधर गली-कूचे की धूल फाँका करता है। मैं तो अपने बाल्यकाल ही से माता-पिता, भाई, सेवक, मंत्री तथा सखा से सुनता आ रहा हूँ कि श्री रामचन्द्र जी के चन्द्र-मुख पर कभी भी क्रोध का आवेश नहीं आया है। उन्हें सदैव सबने प्रसन्न मुख ही देखा है। सदा खेल में अपने छोटे भाइयों को प्रसन्न करने के लिए स्वयं हार जाते थे। उनके चरण-स्पर्श से अहिल्या का उद्धार हुआ किन्तु इस यश की प्रसन्नता तो उन्हें कुछ भी नहीं हुई उलटे इस बात का दुःख हुआ कि 'मुनि-पत्नी' को पैर से छू दिया। धन्य है राम का स्वभाव! इस प्रकार भगवान् के विविधि उपकार के कर्मों को जिसे उन्होंने अपने सरल स्वभाव से किया, इस पद में देते हुए अन्त में तुलसीदास जी कहते हैं कि राम के इन गुणों को समझकर उनके प्रति हृदय में प्रेम पैदा करो और इस प्रकार अनायास ही उस प्रेम के कारण भगवान् के कमलवत् चरणों की प्राप्ति हो जायगी।

पद १०१ में अड़ कर उनके चरणों के समीप बैठ जाते हैं और कहते हैं कि—

'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।'

कोई भी ऐसा नहीं है, जो दीनों पर प्रेम करे। कोई भी ऐसा नहीं है जो पक्षी 'जटायु', मृग 'मारीच', बहेलिया 'बाल्मीकि', पत्थर 'अहिल्या' जड़ वृक्ष 'यमलार्जुन' तथा म्लेच्छ आदि जैसे लोगों को बरबस मुक्ति दे। देवता दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य सभी तो माया के वशीभूत हैं। उनके हाथ में तुलसी अपना जीवन सौंपकर व्यर्थ नहीं करेगा। इसलिए तुम्हारे चरणों को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता है। आपको अपनाना ही पड़ेगा।

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै ॥१०२॥

यहाँ तुलसीदास जी भगवान् की असीम कृपा का वर्णन करते हुए अन्त में कहते हैं कि हे भगवान्, यह माया-जाल आपका रचा हुआ है। इस मोह रूपी रस्सी को आप ही छोड़ेंगे, क्योंकि दूसरे के वश की बात नहीं है कि वह इसे छोड़ सके। इसके अतिरिक्त जिसने भव-बन्धन में डाला है उसी का कर्तव्य मुक्त करना भी है।

१०३ और १०४ में भगवान् से विनय की गई है कि हे भगवान् जितना अज्ञान तथा मोहजाल है सब आपकी कृपा से नाश को प्राप्त होगा। मेरा विश्वास है कि इस जीव की जड़ता आप हरेंगे। संसार में इस शरीर से जहाँ तक प्रेम की प्रतीति का सम्बन्ध है सब एकाकार होकर आप में ही केन्द्रित हो जाय, ऐसी मेरी विनती है। किसी भी रूप में तथा किसी भी जन्म में मैं आपके चरणों से प्रीति के अतिरिक्त धनादि की कुछ भी इच्छा नहीं करता हूँ। आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनको बार-बार यह शिक्षा देते हैं कि—हे मन! अब से तू राम के विमुख कभी न जाना। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ, संसार के जितने सम्बन्ध हैं सबको छोड़कर केवल आप से ही प्रेम का निर्वाह करके दास कहलाऊँगा।

पदसंख्या १०५ बहुत ही प्रसिद्ध है।
अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
मन मधुपहि पनु कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं ॥

अब तक मेरी आयु राम-पद-विमुख रहकर व्यर्थ गई। अब पुनः इसे निरर्थक न जाने दूँगा। राम की कृपा से संसार की महा कालरात्रि बीत गई। महा अज्ञानान्धकार दूर हुआ। यह तो मेरे जागरण की बेला है। इस समय तो आराधना करनी चाहिए। अब चैतन्य होकर मोह में न फसूँगा। सोने का समय नहीं है, इसलिए बिछौना बिछाने की आवश्यकता नहीं है। मुझे राम-नाम रूपी चिन्तामणि मिल गई है, जिसकी कृपा से सभी प्रकार की सिद्धियाँ इष्ट हो जाया करती हैं, भला उसे मैं अपने हृदय से कब खिसकने दूँगा। श्यामतन स्वरूप भगवान् राम मेरे चित्त रूपी स्वर्ण को परखने के लिए पवित्र-सुंदर कसौटी हैं। मैं इस चित्त से उन्हीं की आराधना करूँगा और जब उनकी कसौटी पर खरा उतरूँगा तभी समझूँगा कि यह खरा है। इसमें अब किसी प्रकार का विकार नहीं है। विरक्ति और आत्मबोध द्वारा ही मन की मैल दूर होगी। बिना ध्यान के इसकी प्राप्ति असम्भव है। उसके लिए मुझे सुगम पथ मिल गया है। जब तक मेरी इन्द्रियाँ मन की दासता में थीं तब तक इन्होंने मेरा पूरा उपहास किया। अब उस मन को वश में कर लेने के कारण ये भी वश में हैं, मैं पुनः अपना उपहास न होने दूँगा। कहा भी है—

"एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेनो भयात्मकम्।
तस्मिन् जिते जितावेतौ भवतो पंचकौ गणौ॥ गीता॥"

अर्थात् ग्यारहवाँ मन अपने गुण से बहुत ही प्रबल स्वच्छन्द भयात्मक है। इसे जीत लेने पर ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ स्वयं वश में हो जाती हैं।

तुलसीदास जी कहते हैं कि मैं अपने मन रूपी भ्रमर को रघुपति श्री रामचन्द्र जी के चरण कमलों में प्रणपूर्वक बसा लूँगा। भाव यह है कि कमल के पुष्प से भ्रमर को अधिक अनुराग होता है। जब वह कमल-कोष में बँध जाता है तब इतना आत्मविभोर हो जाता है कि वहाँ से निकलता ही नहीं है। तुलसीदासजी ने इसीलिए अपने मन को भ्रमर बनाने का प्रण किया है कि वही राम के चरण-कमलों में बँध सकेगा।

पदसंख्या १०४ और १०५ दोनों में भक्त 'विनय' की भूमिका के अनुसार विरक्ति, आत्म-निवेदन एवं अनन्यता के साथ 'मनोराज्य' की स्थिति में

पहुँच कर भगवान् से अपने मनोवांछित फल की पूर्ति के लिए आशा कर रहा है।

अपने को भक्त राम की कृपा का पात्र समझ कर प्रेम से पुलकित है। वह कहता है कि वह धन्य है जिसे राम ने समादर दिया—

'महाराज रामादरयौ धन्य सोई' ॥१०६॥

समस्त पौराणिक दृष्टान्तों का वर्णन देता है कि गीध, व्याध, केवट, सबरी आदि को किस प्रकार भगवान् ने अपनाकर समादर दिया। अन्त में कहते हैं कि तुलसी के समान मन्द बुद्धि वाला, कुटिल, दुष्टों का सम्राट तीनों लोक तथा तीनों काल में कोई नहीं हुआ, उसे भी अपने नाम की मर्यादा को रखने के लिए, अपने प्रण को स्मरण करके (शरणागत का रक्षा) कालकाल रूपी सर्प से डँसते हुए को शरण में रख लिया।

पदसंख्या १०७ में कहते हैं कि मेरे आराध्य देव अयोध्या के राजा राम ही उत्तम हैं, हे तुलसीदास! तू उन्हीं की सेवा कर जिनकी आराधना स्वयं भगवान् शंकर ने की है।

पदसंख्या १०८ में शंकर जी जिस मूलमंत्र 'राम-नाम' की आराधना करते थे, उसे ही जपने के लिए मन को उपदेश है। इसका विधान भी बतलाया है।

१०९ और ११० में भगवान् से कहते हैं कि हे नाथ, आप ही का भरोसा है। मैं तो संसार के दुःखों से जल रहा हूँ और मेरे मन में शोक और भय का ही साम्राज्य छाया हुआ है। अब तुलसीदास को यही आशा है कि आपने अनेक पतितों का उद्धार किया है।

१११ वां पद भक्त की 'विचारणा' स्थिति का है। इसमें संसार की असारता देखकर उसका परिज्ञान होने पर मन को उससे दूर हटाने तथा अपने इष्टदेव की ओर उन्मुख करने का उद्बोधन है। इसमें तुलसीदास का दार्शनिक विचार प्रतिलक्षित होता है। इस पर 'विनय-भूमिका' के 'विचारणा' प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है।

११२ से ११६ तक माया और संसार का विवेचन दिया गया है। देखिये-

केसव कारन कौन गोसाईं ॥११२॥

माधव अब न द्रवहु केहि लेखे।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी ॥११३॥
माधव, मोहि समान जग माहीं।
तुलसिदास प्रभु मोह सृंखला छूटहि तुम्हरे छोरे ॥११४॥
माधव, मोह पास क्यों टूटै ॥११५॥
माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया॥
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन-माहीं ॥११६॥

इस पद में माया की कठिनता और राम की कृपा से ही उसकी मुक्ति का मार्ग दिखलाते हैं।

तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ, आपकी माया ऐसी है कि उपाय करके मर जाओ, फिर भी बिना प्रभु की स्वयं कृपा के उद्धार नहीं होता है। किसी प्रकार भी सुनकर, गुनकर समझकर, समझाकर इस माया की गति हृदय में नहीं आती। बिना उसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किए मोह से उत्पन्न संसार की भीषण यातना दुःख देती रहती है। इस मन को ब्रह्मानंद रूपी मीठा और शीतल अमृत का रस प्राप्त हो जाय तभी यह मृगतृष्णा स्वरूप रूप-विषयादि वासनाओं के पीछे रात-दिन दौड़ना छोड़ देगा। जिसके घर में राम-नाम रूपी पवित्र चिन्तामणि है वह क्यों इधर-उधर काँच इकट्ठा करता फिरता है? जिसे आत्मज्ञान है, वह विषयोपभोग सम्बन्धी तुच्छातितुच्छ आनन्द की इच्छा नहीं करेगा। अज्ञानान्धकार के कारण मोहवश स्वप्नावस्था में पड़ जाने के कारण ही यह जीव मायाजाल में फँस जाता है परन्तु ज्ञान हो जाने पर यह उससे स्वयं विरक्त हो जायगा, इसके लिए किसी का उसे क्या कृतज्ञ होना है। ज्ञान, भक्ति आदि अनेक साधन हैं। सभी सत्य हैं, उनमें से कोई झूठ नहीं है तुलसीदास जी कहते हैं, मेरे मन में तो यह भरोसा है कि भगवान् की कृपा ही से यह भ्रम मिटेगा। 'सूर' ने भी कहा है—

'जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो,
क्यों करील फल खावै।'

तथा—

" 'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ।"

पदसंख्या ११७ से १२७ तक बराबर 'विचारणा' की ही स्थिति है । इसके अतिरिक्त 'दीनता' की स्थिति भी है । भक्त भगवान् को कुछ भी दोष नहीं देना चाहता है । प्रभु को अनुकूल जान कर विचारपूर्वक आत्म-निवेदन कर रहा है और बार-बार अपना ही दोष दे रहा है । तुलसीदास के ही शब्दों में देखिये—

हे हरि कवन दोष तोहिं दीजै ।

तुलसिदास भव व्याल ग्रसित, तव सरन उरग-रिपु गामी ॥११७॥

हे नाथ ! मैं आपका क्या दोष दूं । सब कुछ मेरा ही अपराध है । मुझे संसार रूपी सर्प डँस रहा है । हे सर्पों के परम शत्रु गरुड़ पर चढ़ कर भक्तों की पुकार पर दौड़ने वाले प्रभुवर ! मैं आपकी शरण में आया हुआ हूँ । हे नाथ, जिस प्रकार आपका वाहन गरुड़ साक्षात् सर्पों को नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार मुझे कष्ट देने वाले संसाररूपी सर्पों का आप नाश करें ! इसी प्रकार इसके आगे सभी पदों में अपनी निम्न दशा का वर्णन किया है । संसार के विषयों में 'स्वान, अज, खर' के समान अपने को फँसा हुआ बतलाते हैं क्योंकि ये पशु महाविषयी होते हैं । इन्द्रियों की लोलुपता का इनके साथ उपमा देकर तुलसीदास जी ने जीव की निर्लज्जता और कामैषणा की प्रबलता को स्पष्ट किया है ।

हे हरि कवन जतन सुख मानहुँ ।

ज्यों गजदसन तथा मम करनी सब प्रकार तुम्ह जानहु ॥

तुलसिदास निज गुन विचारि करुनानिधान करु दाया ॥११८॥

भगवान् से कहते हैं कि मेरा मन कलुष से भरा है । हाथी के दाँत की भाँति दिखाने के लिए ही साधु का बाना है । कर्म मेरे बड़े ही खोटे हैं । इसलिए मुझे बड़ी चिन्ता है । उसे आप जानते हैं । किन्तु भक्त-वत्सल होने के गुण से हे भगवान ! मेरे ऊपर दया करें । दिखावटी भक्ति के लिए कबीर ने भी कहा है—

'कबिरा तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत ।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत ।।'

इस पद की विशेषता यह है कि मनसा-वाचा-कर्मणा का इसमें सुन्दर विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि संसार में लोग मन में कुछ और रखते हैं तथा दिखाने के लिए उल्टा ही स्वांग रचते हैं। साधु-सन्तों में यह बात और अधिक पाई जाती है।

हे हरि कवन जतन भ्रम भागै ।
निज करनी विपरीत देखि मोहि, समुझि महा भय लागै ।।
तुलसिदास इंद्रिय संभव दुःख हरें बनिहि प्रभु तोरे ।।११९।।

अपने कर्मों को सब तरह से निन्द्य और अल्प समझते हैं तथा इन्द्रियों के वशीभूत समझ कर, उनसे मुक्ति पाने के लिए भगवान की कृपा ही को समर्थ सिद्ध करते हैं।

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी ।
तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै ।।१२०।।

इस पद में 'परबस परेउ कीर की नाई' विशेष अर्थ रखता है जीव की उपमा उस तोते से दी गई है जो खेत में गड़ी दो लकड़ियों पर रक्खी एक लकड़ी पर जिसमें चौंगुली पहिनाई रहती है बैठने से स्वयं अपने ही पंजों के बल उल्टा लटक कर पड़ा रहता है। शुभ और अशुभ कर्म दो लकड़ियाँ हैं तथा एक स्वभाव रूपी लकड़ी इन्हीं पर रक्खी हुई है। इस लड़की के दोनों सिरे इच्छा रूपी चौंगुली में लगे हैं। इच्छा करते ही जीव रूपी तोता बिना किसी के बाँधे ही बँध जाता है। वह शुभ-अशुभ कर्मों में इस प्रकार लिप्त हो जाता है।

यह मेरा है, यह तेरा है बिना इसके गए तुलसीदास जी को सुख नहीं है। इसीलिए 'मैं मोर' का प्रयोग हुआ है। जीव को बन्धन में रखने की यह सबसे बड़ी व्याधि है।

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई ।।१२१।।

इस पद पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

मैं हरि साधन करइ न जानी ॥१२२॥

तुलसीदास जी का कहना है कि मुझे सर्वत्र भ्रम ही भ्रम दिखाई देता है। साधना के जितने अंग हैं सभी उलझे से हैं। आत्म-बोध के बिना सबका समाधान होना असम्भव बतलाते हैं। बिना अहं भावना के निर्मूल हुए आत्मज्ञात नहीं हो सकता।

असं कछु समुझि परत रघुराया।
बिन तव कृपा दयालु दास-हित, मोह न छूटै माया॥
तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं॥१२३॥

इस पद में भगवत्कृपा को ही माया को नाश करने के लिए समर्थ माना गया है। बिना माया गए आत्मबोध और विषय-त्याग भी असम्भव ही है। यदि भगवान् की कृपा हो जाय तो सभी सुलभ हैं। बड़े-बड़े विद्वान पंडित भी बिना राम-कृपा भवसागर नहीं पार कर पाते। कबीर ने भी कहा है—

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥
भीतर तो भेद्यो नहीं, बाहर कथै अनेक।
जोपै भीतर लखि परै, भीतर बाहर एक॥'

पद संख्या १२४ पर प्रकाश डाला जा चुका है।

मैं केहि कहौं विपति अति भारी॥१२५॥

कामादि विषय वासनाओं से वैराग्य, विवेक, सन्तोष, ज्ञान, समता, दया भक्ति आदि रत्नों की लूट हो रही है। भगवान् से कहते हैं कि मेरा मनमंदिर आपका घर है। हे नाथ! चोर लूट रहे हैं। इसकी रक्षा कीजिए नहीं तो मुझे अपने से कहीं चिन्ता आपकी है कि इतने सामर्थ्यवान् का घर लुट गया। हे नाथ, उन तस्करों का नाश कर अपने घर स्वरूप इस मेरे हृदय में वास करें।

मन मोरे मानहि सिख मेरी॥१२६॥

मन को अपनी सभी वासनाओं को छोड़कर निष्कपट भाव से आत्मसमर्पण के लिए आदेश तथा उद्बोधन है।

मैं जानी हरिपद-रति नाहीं ।।१२७।।

मुझे भक्ति नहीं आती है। राम की कृपा से ही वह प्राप्त हो सकती है। तुलसीदास कहते हैं कि इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। इस प्रकार मन को निश्चित कर आशा विश्वास के साथ पद संख्या १२८ में सीतापति राम का स्मरण करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। प्रभु-कृपा रूपी कालिका ही को पापों के राक्षसों-स्वरूप जालिका का हरण करने वाली सिद्ध करते हैं। क्या ही कहा है—

'हरनि एक अघ असुर जालिका। तुलसिदास प्रभु कृपा-कालिका ।।'

१२९ से १३२ तक राम नाम के जप की प्रधानता का वर्णन करते हैं।

पद संख्या १३३ में 'तुलसी तकु ताहि सरन जातें सब लहत ।।' द्वारा बार-बार शरणागत होने का उपदेश देते हैं क्योंकि यह अति सुगम मार्ग है।

पद संख्या १३४ द्वारा उन व्यक्तियों को भी उपदेश देते हैं जो पुरुषार्थ-हीन हैं। अनेक दृष्टान्तों से भरोसा देते हैं कि निष्कपट भाव से शरण में जाने से भगवान् उद्धार कर देते हैं।

'सूहो बिलावल' राग में पदसंख्या १३५ बड़े ही महत्व का है। इसमें तुलसीदास ने अपनी जन्म-दशा की ओर भी संकेत किया है। भगवान् को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने उत्तम शरीर सहित उत्तम कुल तथा भारतवर्ष में जन्म दिया जहाँ जन्म लेने के लिए देवता भी आकांक्षा किया करते हैं। यह शरीर—'साधन धाम, मोक्ष कर द्वारा' बतलाया है। भारतवर्ष कर्मभूमि है। 'रामचरित मानस' में इसे स्वर्ग से भी बढ़कर माना है। देखिए—

"सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावनपुरी रुचिर यह देसा ।।
यद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद-पुरान-बिदित जग जाना ।।
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ ।।"

इस पद पर भी अंशतः प्रकाश पहले पड़ चुका है। राम के अनेक शीलों का वर्णन करते हुए तुलसी ने यहाँ तक कहा है कि राम के कमलवत चरणों की आराधना मात्र से ही जीव निर्भय होकर सर्वत्र विचरण कर सकता है।

'विनय', १३६

(१)

जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो।
तब तें देह गेह निज जान्यो॥
माया बस स्वरूप बिसरायो।
तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥

पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भव-सूल सोग अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम जरा बिपति, मतिमंद हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचार लखि पायो नहीं॥

(२)

आनँद-सिन्धु-मध्य तव बासा।
बिनु जाने कस मरसि पियासा॥
मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी।
तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥

तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि अब आयो तहाँ॥
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख त परिहर्‌यो।
निःकाज राज बिहाइ नृप इव सपन कारागृह पर्‌यो॥

(३)

तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं।
अपने करन गाँठि गहि दीन्हीं॥
तातें परबस पर्‌यो अभागे।
ता फल गरभ-बास दुख आगे॥

आगे अनेक समूह संसृति उदरगत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, उपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवई।
कोमल सरार, गँभोर बेदन, सीस धुनि धुनि रोवई॥

(४)

तू निज करम-जाल जहँ घेरो।
श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों।
परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों॥

तोहि दियो ग्यान बिबेक जन्म अनेक की तब सुधि भई।
तेहि ईस की हौं सरन जाकी विषम माया गुनमई॥
जेहि किये जीव-निकाय बस रसहीन छिन दिन अति नई।
सो करौ बेगि सँभार श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई॥

(५)

पुनि बहु बिधि गलानि जिय मानी।
अब जग जाइ भजौं चक्रपानी॥
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी।
प्रसव-पवन प्रेरेउ अपराधी॥

प्रेरयो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ग्यान ध्यान बिराग अनुभव जातना-पावक दह्यो॥
अति खेद ब्याकुल अल्प बल छिन एक बोलि न आवई।
तब तीव्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हरषित गावई॥

(६)

बाल दसा जेते दुख पाये।
अति असीम नहिं जाहिं गनाये॥

छुधा ब्याधि बाधा भइ भारी ।
बेदन नहिं जानै महतारी ॥
जननी न जानै पीर सो, केहि हेतु सिसु रोदन करै ।
सोइ करै बिबिध उपाय जातें अधिक तुव छाती जरै ॥
कौमार, सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै ।
ब्यतिरेक तोहि निरदय महाखल आन कहु को सहि सकै ॥

(७)

जौबन युवती सँग रँग रात्यो ।
तब तू महामोद-मद-मात्यो ॥
ताते तजी धरम मरजादा ।
बिसरे तब सब प्रथम बिषादा ॥
बिसरे बिषाद निकाय-संकट समुझि नहिं फाटत हियो ।
फिरि गर्भगत-आवर्त संसृतिचक्र जेहि होइ सोइ कियो ॥
कृमि भस्म-बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो ।
परदार परधन द्रोह पर संसार बाढ़ै नित नयो ॥

(८)

देखत ही आई बिरुधाई ।
जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई ॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं ।
सो अब प्रगट देखु तनु माहीं ॥
सो प्रगट तनु जरजर जराबस, ब्याधि सूल सतावई ।
सिरकंप इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई ॥
गृहपाल हू तें अति निरादर खान-पान न पावई ।
ऐसिहुँ दशा न बिराग तहँ तृस्ना तरंग बढ़ावई ॥

(९)

कहि को सकै महाभव तेरे।
जनम एक के कछुक गनेरे॥
चारि खानि संतत अवगाहीं।
अजहुँ न करु बिचार मन माहीं॥

अजहूँ बिचार बिकार तजि भजु राम जन-सुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर जलरथं, भजु चक्रधर सुरनायकं॥
बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार-माया-तारनं।
कैवल्य-पति, जगपति, रमापति, प्रानपति गतिकारनं॥

(१०)

रघुपति-भक्ति सुलभ सुखकारी।
सो त्रयताप-शोक-भय-हारी॥
बिनु सतसंग भक्ति नहिं होई।
ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥

जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये।
जेहि दरस-परस समागमादिक पापरासि नसाइय॥
जिनके मिले सुख-दुख समान, अमानतादिक गुन भये।
मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये॥

(११)

सेवत साधु द्वैत-भय भागै।
श्रीरघुबीर-चरन-लौ लागै॥
देह-जनित बिकार सब त्यागै।
तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥

अनुराग सो निज रूप जो जगतें बिलच्छन देखिये।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥

निरमल निरामय एकरस तेहि हर्ष-सोक न ब्यापई ।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥

(१२)

जो तेहि पंथ चलै मन लाई ।
तौ हरि काहे न होहिं सहाई ॥
जो मारग स्रुति साधु दिखावै ।
तेहि पथ चलत सबै सुख पावै ॥

पावै सदा सुख हरि-कृपा संसार-आसा तजि रहै ।
सपनेहुँ नहीं दुःख द्वैत दरसन, बात कोटिक को कहै ॥
द्विज देव गुरु हरि सन्त बिनु संसार-पार न पाइये ।
यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये ॥

यह पद अधिक विस्तार में है । जीव जबसे प्रभु से अलग हुआ तब से मायाजाल में अधिकाधिक उलझता ही गया । उसके उद्धार के लिए बिना ब्राह्मणों, देवताओं, गुरुओं, सन्तों तथा भगवान् की कृपा के और कोई मार्ग नहीं है । यही समझ कर तुलसीदास अपने को भगवान् की शरण में रख कर उनके गुणों का गान करते हैं। इस विषय में अनेक भक्तों के विविध उद्‌गार हैं :—

"सबैदिन गए विषय के हेत ।
'सूरदास' कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत ॥"
"तुलसी संगति साधु की कटै कोटि अपराध ॥तुलसी०॥
"अंगं गलितं-पलितं मुंडं, दशन विहीनं जातं तुंडम् ।
मार्गे याति गृहीत्वा दंडं, तदपि न मुंचत्याशा पिंडम् ॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़ मते ॥
—श्रीशंकराचार्य ।

'देह जनित······लेखिये' इस अवस्था को गीता में "ब्राह्मी" अवस्था कहा गया है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन, जब जीव मन की सारी इच्छाओं को छोड़ देता है, मन इच्छा रहित हो जाता है, तब वह स्वयं अपनी आत्मा ही में सन्तुष्ट रहने वाला प्राणी स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

'सूरदास' एक स्थान पर क्या ही उत्तम कह गए हैं—

'जा दिन सन्त पाहुने आवत।
ता दिन तीरथ कोटि आप ही, ताके गृह चलि आवत॥'

यह पद 'विनय-पत्रिका' के पूर्वार्द्ध का अन्तिम पद है। इसलिए इसकी बड़ी विशेषता है। इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का बड़ा ही सुन्दर प्रभावोत्पादक निरूपण किया गया है। जीव की पूर्वादशा के वर्णन के साथ उसके उद्धार और मोक्ष के मार्ग का विवेचन है। इसके द्वारा तुलसीदास ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है।

लीजिए इसका पूरा भावार्थ ही यहाँ दे दिया जा रहा है—

पदसंख्या १३६—(१) ईश्वर और जीव अपनी-अपनी सत्ता से अविनाशी; चेतन, अमल, सहज सुख-राशि माने जाते हैं। दूसरे शब्दों में 'सच्चिदानन्द' स्वरूप दोनों का है। किन्तु जीव प्रकृति के अधीनस्थ है। उसे परमात्मा से दूर होकर कर्म-क्षेत्र में आना पड़ता है। यहाँ माया-जाल में पड़कर उसे कर्म करना पड़ता है। 'सुत वित नारि भवन परिवारा'; में रहना पड़ता है। इस मोहमयी प्रमाद-मदिरा का पानकर वह अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है तथा अपने इस पंचभौतिक नश्वर शरीर को ही अपना वास-स्थान समझने लगता है। इस भ्रम के कारण उसे घोरतम यातनाओं को भोगना पड़ता है जिससे असह्य पीड़ा होती है। रागद्वेषादि के कारण जो असह्य वेदना हुई उसके कारण स्वप्न में भी सुख लेशमात्र को न मिला। अरे! तू तो हठ के साथ उन्हीं संसारी मार्गों से चलता रहा जिसमें शूल के समान शालने वाले कष्ट ही कष्ट रहे। हे बुद्धिहीन, इस हठ के कारण तुझे बार बार अनेक योनि में जन्म लेकर वृद्धावस्था तथा विपत्तियों का सामना

करना पड़ा, फिर भी तूने भगवान् को न जाना। रे मूढ़! विचार कर देख, कि बिना श्रीराम की शरण में गए तुझे कहीं विश्राम मिला? सुख-शान्ति का एकमात्र कारण तो सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभुवर ही हैं, बिना उनकी आराधना के कहाँ शान्ति मिले।

(२)

हे जीव! तू तो स्वयं आनन्द-स्वरूप है। आत्मज्ञान को भूल कर अज्ञानान्धकार वश क्यों प्यासा मरता है? क्यों दुःख भोगता है? तू तो मृगवारि को ही भ्रमवश जल समझ कर तथा प्यास को बुझाने का साधन समझ कर सुख का अनुभव करके प्रसन्न हो गया। वहाँ तू प्रसन्नता पूर्वक स्नानकर पान करता है, जहाँ तेरी प्यास बुझाने के लिए तीनों काल में जल नहीं; क्योंकि इस जल के पान से तो प्यास और बढ़ती ही जाती है—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' तेरी प्यास मिटाने के लिए शीतल-पवित्र जल तो श्रीराम जी के कमलवत् चरणों में है, जहाँ से पतित-पावनी, संसार-तारणी भगवती भागीरथी का आदि स्रोत निर्झरित हुआ है। तू तो अपना स्वाभाविक अनुभवगम्य रूप भूल कर यहाँ इस माया जाल में आ गया है। जिस संसार का स्वयं अस्तित्व नहीं है, वहाँ सुख और शान्ति कहाँ से मिलेगी? यहाँ तू विषय वासना रूपी झूठे जल में प्रसन्नता से स्नानकर उसी का पान करता हुआ फँसता जा रहा है, जिसमें शीतलता का नाम भी नहीं है। तू ने तो उस विमल, विकार रहित, अविनाशी उदार सुख का परित्याग कर दिया, व्यर्थ ही राजकाज छोड़कर राजाओं की भाँति स्वप्नरूपी कारागार में पड़ा हुआ है, आत्मानन्द को छोड़कर विषय-वासना रूपी स्वप्न-बन्दीगृह में आबद्ध है।

(३)

हे जीव! तू ने अपने ही हाथ से गाँठ देकर अपनी कर्म रूपी रस्सी को दृढ़ किया है, इसीलिए तू उन कर्मों के वश में पड़ गया है। आगे इसका फल तेरे लिए गर्भ-वास का दुःख भोगना है। यही नहीं, संसार की और जो कुछ यातना है, उसे वही जानता है जो माता के गर्भ में है। उसका सिर नीचे

और पैर ऊपर रहता है। इस दुःख के समय कोई बात तक नहीं पूँछता है। रक्त-विष्टा, मल-मूत्र, कीड़ा और कीचड़ से आवेष्टित (ढँका हुआ) होकर तू सोता है। तेरा शरीर अति कोमल है, परन्तु वेदना अति गम्भीर है, जिसे पाकर तू शिर पीट-पीट कर रोता है। वहाँ कोई भी तेरी रक्षा करने वाला नहीं है। जैसा कर्म-फल है, वैसा भोगना ही पड़ेगा।

(४)

हे जीव! जहाँ कहीं भी तू अपने कर्मों के जाल में फँसा, वहीं पर भगवान् ने तेरा साथ दिया। जब ज्ञान हुआ, तब तुझे अपने अनेक जन्मों का स्मरण हुआ। उस समय तू कहने लगा कि—मैं उस परमप्रभु की शरण हूँ जिसकी माया तीनों गुणों से भरी हुई है और जिस माया ने अपने वश में समस्त जीवों को करके दिन-प्रति दिन दुखी बना दिया और स्वयं नित्य नवीना बनी रही। इसलिए शीघ्र ही हे श्रीपति! मेरी रक्षा कीजिए क्योंकि आप ही विपत्ति में मुझे बुद्धि देने वाले हैं। मुझे आपने ही आत्म-ज्ञान कराया है।

(५)

पुनः अनेक प्रकार से मन में ग्लानि मान कर यह निश्चय किया कि अब जन्म लेकर चक्रपाणि भगवान का भजन करूँगा, जिससे दूसरा जन्म न लेना पड़े। ऐसा विचार कर जीव जब मौन हो गया त्योंही प्रसव-काल की पवन ने उस अपराधी को प्रेरित किया। उस प्रबल प्रचंड प्रसव कालीन वायु की प्रेरणा से अनेक प्रकार की वेदना हुई और तूने उनको सहन किया। इस यातना की भीषण अग्नि में तेरा ज्ञान, ध्यान, वैराग्य तथा जन्म-जन्मांतर का अनुभव सब भस्म हो गया, तुझे सब भूल गया। इस प्रसव-कालीन वेदना में अति दुख से व्याकुल होने के कारण तुझमें थोड़ा ही बल शेष रह गया और एक क्षण के लिए तो कुछ बोल भी न सका। तेरी इस दारुण व्यथा को कोई न जान सका और सब लोग प्रसन्न होकर मंगल-गान गाने लगे।

(६)

बाल्यावस्था में तुझे जो-जो दुःख हुए उनकी गणना नहीं हो सकती है। भूख, रोग तथा अनेक बाधाओं के भयंकर दुःख से तू घिर गया और तेरी माता को इस वेदना का कुछ भी आभास न हुआ। माता तेरी पीड़ा को न जान सकी कि पुत्र किस कारण से रोदन कर रहा है। तेरे कष्ट को दूर करने के लिए वह विपरीत ही उपचार करती है, जिससे तुझे और अधिक दुःख होता है। शिशुपन, कुमारावस्था और किशोरावस्था में तूने जितना पाप किया है, उसे कोई कह नहीं सकता। रे निर्दयी! महानीच! कह, तेरे सिवाय और दूसरा कौन है जो इसे सहन करे।

(७)

युवावस्था को प्राप्त होते ही तू युवती के संग में पड़ कर उसी के रंग में रँग गया तथा उसमें अनुरक्त होकर तू महामोह रूपी मद से प्रमत्त हो गया और कामान्ध होकर धर्म की मर्यादा को छोड़ कर गर्भ-कालीन विषाद को भूल गया। उन प्रसव-कालीन सभी वेदनाओं को भूल जाने के कारण आगे तुझे क्या-क्या कष्ट भोगना पड़ेगा, उसे सोच-समझ कर तेरी छाती क्यों नहीं फट जाती! पुनः तूने वही कर्म किया जिससे गर्भ में बार-बार आकर गिरना पड़े तथा संसार चक्र में आना पड़े। इन्द्रियों के वश ही में पड़ा रहकर दुख भोगता रहा और कृपालु प्रभु को भूल गया। जिस शरीर का आदि परिणाम कीड़ा, राख, विष्टा है, उसके लिए तू संसार का शत्रु बन बैठा, इस नश्वर शरीर को सुख देने के लिए तूने सबके साथ बुरा व्यवहार ही किया। संसार में दूसरे की स्त्री, दूसरे के धन और दूसरे से द्रोह को ही तू अपनाता रहा और इसी विचार की नित्य बढ़ती होती रही।

(८)

जिस वृद्धावस्था का स्वप्न में भी तुझे ध्यान नहीं था, वह देखते ही देखते आ गई। उस बुढ़ापा के गुण का वर्णन नहीं किया जा सकता है, उसे अब

तू प्रत्यक्ष अपने शरीर ही में देख ! वह शरीर अब स्पष्ट रूप से जीर्ण-शीर्ण हो गया है, बुढ़ापा के कारण उसे रोग और शूल से दुःख हो रहा है। सिर हिल रहा है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गई हैं। तेरी बात किसी को प्रिय नहीं लगती है। घर की रखवाली करने वाले कुत्ते से भी अधिक तेरा निरादर होता है, खाने-पीने को भी उचित रूप में नहीं पाता है। ऐसी दशा को देख कर भी तुझे वैराग्य नहीं आता और तेरी तृष्णा प्रतिपल तरंगित होकर बढ़ती ही जा रही है।

(९)

तू संसार में अनेकानेक बड़ी से बड़ी योनियों में जन्म लेकर क्या-क्या दुःख भोगता रहा, उसे कौन कह सकता है, यह तो एक जन्म की कुछ यातनाओं का वर्णन है। देख, सदा पिंडज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज चार प्रकार की कोटियों में भ्रमण करना पड़ता है। अब भी तू मन में विचार नहीं करता है। आज भी तू विचार कर और विकार को छोड़कर अपने जनों को सुख देने वाले राम का भजन कर। कठिनता से जिसको पार किया जा सकता है ऐसे संसार-सागर को पार करने के लिए महान् नौका स्वरूप चक्रधारण करने वाले देवताओं के नायक श्री रामचन्द्र जी को भज। वे बिना कारण ही दया करने वाले, उदार तथा अपार माया जाल से मुक्त करने वाले, मोक्ष देने वाले, संसार के स्वामी, लक्ष्मीपति, प्राणों के नाथ, कल्याण करने वाले हैं।

(१०)

श्री रघुनाथ की भक्ति सुलभ और सुख देने वाली है। वह दैहिक, दैविक, भौतिक तापों के शोक तथा भय का हरण करने वाली है। किन्तु बिना सत्संगति के भक्ति नहीं मिल सकती और सन्त लोग भी उसकी कृपा ही से मिलते हैं। जब दीनों पर दया करने वाले राघव द्रवित होते हैं तभी साधु की संगति मिलती है और उनके दर्शन, स्पर्श तथा समागम से पाप-पुंज नष्ट हो जाते हैं। उनके मिलने से दुख-सुख, मान-अपमान समान मालूम होने लगते हैं, ऐसे अनेक गुण प्राप्त होते हैं। उनके सदुपदेश से सुबोध (आत्म-

ज्ञान, ज्ञानोदय) हो जाने से अहंकार, अज्ञान, लोभ, शोक, क्रोध आदि स्वभावतः दूर हो जाते हैं। सत्संग से ही 'स्थित-प्रज्ञ' की अवस्था स्वयं प्राप्त हो जाती है।

(११)

साधु लोगों की सेवा करने से 'ब्रह्म-जीव' का भेद मिट जाता है और श्री रामचन्द्र जी के चरणों में उसका ध्यान लग जाता है। इसके बाद शरीर से उत्पन्न सभी विकार दूर हो जाते हैं और पुनः वह अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उससे प्रेम करने लगता है। अपने सत्स्वरूप से अनुराग होने पर वह अपने को संसार से विचित्र देखता है। उसे दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। उसके हृदय में सन्तोष, समता तथा शान्ति रहती है, इन्द्रियों पर दमन द्वारा अधिकार प्राप्त हो जाने से वह जीव शरीर रहते हुए भी विदेह रहता है। उसे अपने शरीर का ज्ञान नहीं रहता है। वह सदा पवित्र, नीरोग और एकरस रहता है, उसे हर्ष-शोक नहीं व्याप्त होता है। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है, वह स्वयं तीनों लोकों में सदा पवित्र होते हुए तीनों लोकों को भी पवित्र करता है।

(१२)

जो मन लगाकर इस रास्ते पर चलता है उसकी भगवान् भी सहायता करते हैं। जिस मार्ग को साधु और वेदों ने बताया है, उस पर चलने से अवश्य सुख की प्राप्ति होती है। उसे भगवान् की कृपा से सदा सुख मिलता है और वह संसार की आशा को छोड़ देता है। जो जीव और ब्रह्म में भेद देखता है उसे स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता है ; यों तो करोड़ों बातें हैं, उन्हें कौन गिनाता फिरे। ब्राह्मण, देवता, गुरु, भगवान् और सन्त आदि की कृपा के विना संसार का पार पाना अति कठिन है। तुलसीदास जी कहते हैं कि यह जान करके भय को दूर करने वाले रमापति भगवान् राम का गुण-गान करना चाहिये।

१३७—तुलसीदास को जब विश्वास हो जाता है कि भगवान् की कृपा उनके ऊपर है तो वे संसार की कुछ भी चिन्ता नहीं करते हैं। अनेक दृष्टान्तों द्वारा मन को दृढ़ करते हैं कि भगवान् की शरण में निर्बल से भी निर्बल जो गया उसे सुगति मिली। संसार की कोई भी शक्ति उसका विरोध करके उसे रंचमात्र भी हानि न पहुँचा सकी। मन को पूरा आश्वासन देकर निर्भय बनाते हैं। इसके बाद 'मनोराज्य' की स्थिति में पहुँच जाते हैं। पदसंख्या १३८ में भगवान् से कमलकरों की कृपा के लिए आशा की गई है।

पदसंख्या १३६ विशेष महत्व का है। इसमें उस समय की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति का ज्ञान होता है। समस्त प्रकार के दुःखों से त्राण पाने के लिए भगवान् की आराधना की गई है। इस पर यथा अवसर पहले ही पूरा प्रकाश डाला जा चुका है।

१४०—भगवान् से विमुख रहना संसार के सब दुःखों का मूल कारण बताया गया है। १४१ वें पद में बिना हरि-कृपा संसार-सागर पार नहीं किया जा सकता और उनकी कृपा से वह गौपद के समान है।

१४२—१४४ तक भगवद्भक्ति के गुण को जानते हुए भी सांसारिक सुखों में भूलकर यातना भोगने की बात लिखी गई है।

१४५ वें पद में भगवान् की शरण में जाकर आत्मसमर्पण द्वारा सहायता के लिए प्रार्थना है। १४६ वें में भी अपनाने के लिए निवेदन है। कहते हैं कि आपका बक और श्वान वाला न्याय प्रसिद्ध है। हे नाथ, मैं आपके ही घर का रहनेवाला हूँ, मुझे शरण दीजिए। १४७ में एक बार की कृपा कटाक्ष से ही अपनी मुक्ति समझते हैं। १४८ में अपने अवगुणों को समझ कर संकोच का अनुभव करते हैं और राम से कहते हैं, मैं महान् पापी हूँ, निर्धन हूँ, कुछ भी पुण्य लेकर नहीं आया हूँ। आप 'गरीब-निवाज' हैं, अपने इस गुण को विचार कर अपना बना लीजिए।

यह तुलसी आप ही का है। इसे कहीं ठिकाना नहीं है। सदा तेरी ही सेवा में जन्म बिताया है और तेरे द्वार को छोड़कर कहीं नहीं गया है, दूसरे किसी

की भूलकर भी अराधना नहीं की है। बड़ा भरोसा लेकर ही रामनाम की इतनी भारी आड़ में अपने अवगुणों को छिपाने आया हूँ। जैसे हो कृपा अवश्य कीजिए ॥१४६॥

१५० वें पद से तुलसी की लोक-मंगलाशा प्रकट होती है। इसमें वे कहते हैं कि हे नाथ, मुझे अपनी चिन्ता है भी और नहीं भी है। संसार में सभी जीव दुःखी हैं। मेरा तो केवल आप से ही सम्बन्ध है। मेरे लिए एकमात्र आप ही हैं और आप के लिए तो मेरे जैसे अनेक हैं। हे नाथ, आपको जो जान पड़े वह करें। सामने प्रभु का त्यागा हुआ तुलसी शरणागत की भाँति खड़ा है। यहाँ से अब कहीं नहीं जायगा। १५१, १५२ में मन को कोसते हैं, यदि तू राम की सेवकाई करता तो तेरी दुर्गति न होती। राम की महिमा से अपने जैसे नीच को भी राम-भक्त के रूप में पाकर उनके गुणों की श्रेष्ठता और अपनी लघुता का वर्णन करते हैं।

१५३—१५७ तक रामनाम की श्रेष्ठता का वर्णन है। ऐसे चरित्रवान्, कृपालु, मुक्ति-दाता, भक्त-वत्सल को जो नहीं भजता उसका विधाता ही रूठा है।

१५८ और १५६ पर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। 'विनय' की भूमिका के अनुसार यह भक्त की 'दीनता' वाली स्थिति का बोध कराता है। अपना ही सब दोष देता है। भव-बन्धन में फँसने का उत्तरदायित्व अपने ही ऊपर लेता है।

१६० और १६१ में प्रभु की भक्त-वत्सलता का वर्णन है। प्रभु के अतिरिक्त और किसी को समर्थ नहीं बतलाता है। उनकी कृपा को यहाँ तक कहा है कि उससे बिना जोते-बोये ही फल मिलता है।

१६२ वें पद में भक्त सब तरह से प्रभु के ऊपर निर्भर रह कर उसी के बल पर अपने मन को आश्वासन देता है। इस पर प्रकाश पड़ चुका है।

राम ही एक श्रेष्ठ दानी, उद्धार करनेवाले, प्रीति की रीति को जानने वाले हैं। उनकी यही बड़ाई है कि अभिमानियों का निरादर करके दीनों पर कृपा करते हैं। राम दीनों का हित करनेवाले हैं। तुलसी कहते हैं, हमारे ऊपर भी

कृपा करो। इस प्रकार १६३ से १६६ तक के पदों में दीनता का प्रदर्शन तथा मन को आश्वासन दिए हैं।

१६७ वें पद पर प्रकाश पड़ चुका है। राम-भक्ति कहने में ही सरल है किन्तु करने में कठिन है।

जो राम के चरणों से प्रेम होता, यदि राम प्रिय लगते, जो मन कभी राम से प्रेम करता तो उसे संसार का दुख नहीं होता। १६८ से १७० तक इस विषय में चर्चा की गई है। तुलसी को केवल इस बात पर विश्वास है कि प्रभु की मूर्ति ही कृपामय है, इसलिए शरण में आने पर अवश्य दयार्द्र होकर अपना बना लेंगे।

हे राम! मैं बड़ा ही प्रपंची दुष्ट हूँ। बार-बार आप से विमुख होता हूँ। इसलिए मुझे संसार की यातना में ह लिप्त करो। मुझे दण्ड मिलना आवश्यक है। मैं अन्तर्यामी भगवान् से भी कपट करता हूँ। ऐसे दुष्ट पर भी आप दया करते रहे। आप मेरे ऊपर पूर्वजन्म से दया करते आए हैं। भविष्य में भी करेंगे। तुलसी को अपने प्रभु पर पूरा विश्वास है। आश्वासन की स्थिति में भक्त अपने को पाता है।

१७२ वाँ पद 'मनोराज्य' की स्थिति का है। इसमें भक्त भगवान् से मनोवांछित फल की प्राप्ति के लिए आशा किया करता है। इस पर तथा १७३ वें पद पर प्रकाश डाला जा चुका है। तुलसीदास जी कलिकाल के सब कर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों को केवल परिश्रममात्र समझते हैं।

जाके प्रिय न राम-बैदेही ॥१७४॥
जोपै रहनि राम सों नाहीं ॥१७५॥

उपरोक्त पदों में राम से विमुख होकर संसार का कोई भी सम्बन्ध नहीं मानते। संसार में जीना ही व्यर्थ है, यदि राम से स्नेह नहीं।

मन को कोसते हैं कि रे नीच! जिस राम ने बार-बार तेरे ऊपर दया की, उनसे तू प्रेम न कर अन्यत्र भटकता रहा ॥१७६॥

जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों ॥१७७॥

इष्टदेव की श्रेष्ठता तथा राम ही एक सुख-दाता आराध्यदेव हैं, के आधार पर उनका ही भजन करने के लिए दृढ़ निश्चय करते हैं तथा अपनी दीनता का उद्‌घोष करते हैं।

भयेहूँ उदास राम मेरे आस रावरी ।।१७८।।

कहाँ जाऊँ कासों कहौं कौन सुनै दीन की ।।१७९।।

प्रत्येक परिस्थिति में राम ही का भरोसा किया गया है।

१८० और १८१ में राम की कृपा-कटाक्ष मात्र चाहते हैं। अनेक दृष्टान्त देते हैं, जिनमें पतितों के उद्धार की बात है। अपने दुःख का निवेदन कर रहे हैं।

सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो ।।१८२।।

इसमें संसार की असारता का ज्ञान होने के बाद मन को उससे दूर करने तथा अपने इष्टदेव की ओर उन्मुख होने की चेतावनी है। यह भक्त के 'विचारणा' की स्थिति होती है।

राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है।
तुलसी पराये बस भये रस अनरस
दीनबंधु द्वारे हठ ठनियत है ।।१८३।।

हे राम! आप प्रीति की रीति को जानते हैं। यह तुलसी विषयों के वश में होकर आप से विमुख होते हुए भी आपके द्वार पर हठ ठान रहा है।

राम नाम के जपे जाइ जिय की जरनि।
राम नाम सों प्रतीति प्रीति राखे
कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ।।

रामनाम के जपने से मन की ज्वाला शान्त हो जाती है। रामनाम के प्रेम पर विश्वास करने से हे तुलसीदास! श्री रामचन्द्रजी कभी न कभी स्वयं कृपा करेंगे ।।१८४।। 'आश्वासन' की स्थिति है।

लाज न लागत दास कहावत ।
राखु सरन उदार चूड़ामणि ! तुलसिदास गुन गावत ॥१८५॥

इस पद में भक्त को अपने कर्मों को समझ कर आत्मग्लानि होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति जीव की दोनों स्त्रियाँ स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी सूक्ष्म शरीर के साथ लगी रहती हैं तथा स्वर्ग में भी कलह द्वारा जीव को चैन नहीं लेने देतीं—'सरगहुँ मिटत नसावत ॥' तुलसीदासजी कहते हैं कि हे भगवान् आप उदार हैं, मैं आपका गुणगान कर रहा हूँ। मुझे अपनी शरण में रख लीजिए—

कौन जतन बिनती करिये ।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि-पचि मरिये ॥१८६॥
ताहि ते आयो सरन सबेरे ।
तुलसिदास यहि बिपति बागुरा तुमसों बनिहि निबेरे ॥१८७॥

आत्मसमर्पण द्वारा भक्त अपनी मुक्ति चाहता है।

मैं तोहिं अब जान्यो संसार ।
बाँधि न सकहिं मोहिं हरि के बल, प्रगट कपट-अगार ॥
तुलसिदास प्रभु के दासन्ह तजि भजहिं जहाँ मदमार ॥१८८॥

मायावाद के अनुसार तुलसीदास जी संसार को मिथ्या मानते हैं। वे तीनों भ्रमों को छोड़ने के लिए कहते हैं। जन्म-जन्मान्तर में भी इस संसार-समुद्र का पार नहीं पाया जा सकता है। तुलसीदास जी राम-कृष्ण को एक ही परात्पर परब्रह्म समझते थे। इसलिए 'नन्दकुमार' शब्द से भ्रम नहीं होना चाहिये।

हे संसार ! तू कपट का घर है। मुझे राम का बल है। तू किसी प्रकार भी मुझे धोखा नहीं दे सकता। तू देखने में सुन्दर, मनोहर है, भीतर से सार-रहित है। तू उन लोगों को वश में कर जिनके हृदय में राम नहीं हैं। यदि तू चाहता है कि तेरी सत्ता बनी रहे तो भगवद्भक्तों को छोड़ दे और जहाँ अहंकार तथा कामदेव की महिमा हो वहाँ भाग जा। जिन लोगों के मन में अहंकार, कामादि विकार हैं, उनके पास रहने ही में तेरा और तेरे परिवार (अन्यान्य विषय-वासनाओं) का हित है। तू उनसे ही छल-प्रपंच कर जो तुझे नहीं जानते हैं। मुझे अब आत्मज्ञान हो गया है तेरे जाल में नहीं फँस सकता हूँ।

संसार को इस प्रकार ललकारने के बाद तुलसीदास जी 'भय-दर्शना' की स्थिति में पहुँच जाते हैं। मन को भय दिखलाकर तथा संसार की भयंकरता को कह कर इष्टदेव के सम्मुख करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पदसंख्या १८६ इसके लिए प्रसिद्ध है। इस पर 'भय-दर्शना' प्रकरण में प्रकाश पड़ चुका है। इसी भाव से 'कबीर' ने भी लिखा है—

'रस गगन-गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल तहँ कमल फुलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करै॥
बिन चंदा उजियारी दरसै, जह-तहँ हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारे तारी लागी अलख पुरुख जाको ध्यान धरै।
काल-कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै॥
जुगन-जुगन की तृषा बुझाती, करम-भरम अघ व्याधि टरै।
कहैं 'कबीर' सुनो भाई साधो, अमर होय, कबहूँ न मरै॥

जीव का प्रमुख स्थान 'कबीर' साहब 'हंस लोक' या 'सत्यलोक' बतलाते हैं। 'निज बास' इस पद में विशेष महत्व का है।

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सनेह।
तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिये की आँखिन हेरि॥१६०॥
एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु॥१६१॥
जोपै जानकीनाथ सों नातो नेह न नीच।
तुलसी तू मेरे कहे जपु रामनाम दिनराति॥१६२॥

इस प्रकार इन सभी पदों में भक्त 'भय-दर्शना' की स्थिति में है।

१६३ से १९६ तक मन को सब तरह से समझा-बुझाकर तथा भय दिखाकर राम का भजन करने के लिए ही प्रेरित करते हैं। इन सभी पदों में 'भय दर्शना' की ही स्थिति है। मन को विश्वास दिलाने के लिए नाना प्रकार के पौराणिक उपाख्यानों का प्रमाण दिया गया है। तुलसीदास ही की तरह संसार की विपत्तियों के लिए 'कबीर' भी कुछ कहते हैं—

'पढ़े-गुने-सीखे-सुने, मिटी न संसय-सूल।
कह 'कबीर', कासों कहूँ, येही दुख का मूल॥

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहि जाय।
सलिल-मोह-नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय ॥'

'सुनिय नाना पुरान मिटत नहिं अग्यान' ॥१९७॥ के लिए उपरोक्त दोहे हैं। इसी प्रकार 'सेमर.........बिनु हीर।' के लिये भी 'कबीर' के भाव को देखिए—

'सेमर सुवना बेगि तजु, घनी बिगुर्चन पाँख।
ऐसा सेमर जो सेवे, हृदया नाहीं आँख ॥'

पद संख्या १९८ में मन को प्रबोधन दे रहे हैं कि तू समय बीत जाने पर पश्चाताप करेगा। समय कम है। जाग जा।

'अब नाथहि अनुराग जागु जड़, त्यागु दुरासा जीते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते ॥'

रे मूर्ख! तू अविद्या रूपी निद्रा से जाग और अपने मन से संसार की विषय-भोग सम्बन्धी आशाओं को छोड़कर श्री रघुनाथ राम से प्रेम कर। तुलसीदास जी कहते हैं कि विषय-भोग रूपी घी डालने से कामाग्नि तीव्र होकर बढ़ती ही जाती है, शान्त नहीं होती है। उसे शान्ति रूपी जल से बुझाने का प्रयास कर रामोन्मुख हो जाना चाहिए।

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तुलसिदास हरि भजहि आस तजि काल उरग जग खायो ॥१९९॥

रे मन! व्यर्थ इधर-उधर क्यों दौड़ता है। सब आशा छोड़कर भगवान का भजन कर। तेरे सिर पर काल रूपी सर्प खड़ा है। शीघ्र ही तेरा नाश होने वाला है। 'कबीर' ने कैसी सुंदर चेतावनी दी है—

'पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही मिटि जाइगो, ज्यों तारा परभात ॥'

मन पछितैहै अवसर बीते ॥१९८॥ में दिए गए प्रबोधनों के सम्बन्ध में 'कबीर' के विचार—'हम हम......रीते'—के लिए कितने मार्मिक हैं:—

'हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरिया।
प्रान-राम जब निकसन लागे, उलटि गईं दोउ नैन पुतरिया ॥

भीतर से जब बाहर लाए, छूट गईं सब महल-अटरिया।
चार जने मिलि खाट उठाइन, रोवत लै चले डगर-डगरिया॥
कहत 'कबीर', सुनो भाई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया॥'

और भी इन्हीं के भाव—

'पाँचो नौबत बाजती, होत छतीसो राग।
सो मंदिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग।
आस-पास योद्धा खड़े, सभी बजावैं गाल।
माँझ महल से ले चला, ऐसा काल-कराल॥

'सुत बनितादि······ तू न तजै अबहीं ते॥' वाल्मीकि से ऋषियों ने इन सबसे उनके पाप-पुण्य में भाग लेने के लिए पुँछवाया था और उत्तर मिला था कि वे केवल खाने-पीने के साथी हैं। इस पर वाल्मीकि को आत्म-बोध हुआ था तथा संसार से विरक्त होकर परमपद की प्राप्ति किये। ये सब अन्त में छोड़ देने वाले हैं। कोई साथ नहीं जाता है।

ताँबे सो पीठि मनहुँ तनु पायो।
भजहि न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि जेहि महेस मन लायो॥२००॥

अपने नश्वर शरीर पर ही रे नीच! तू क्यों फूला-फूला फिरता है। यह जान कर भी तू सभी संसारी पदार्थों से प्रेम करने में लिप्त हो गया है। बड़े-बड़े शक्तिशाली न बचे, तू किस गणना में है। विचार कर देख ले कि वास्तविकता क्या है? तुलसीदास जी कहते हैं कि आज भी तू उस रामनाम को नहीं भजता है जिसे शंकर जी भजते हैं। 'नीच······सीस पर' के सम्बन्ध में 'कबीर' का भाव देखिए—

'माली आवत देखि के, कलियन उठीं पुकार।
फूली-फूली चुनि लई, कालिह हमारी बार॥'

'गये संग काके' के सम्बन्ध में क्या ही सुन्दर साखी 'कबीर' की है—

'इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं॥'

'जेहि महेस मन लायो'—शिव जी ने पार्वती से कहा था—

'अहं जपामि देवेशि, रामनामाक्षर द्वयम्।
श्रीरामस्य स्वरूपस्य ध्यानं कृत्वा हृदिस्थले॥'

इसलिए हे मन! शीघ्रातिशीघ्र तू राम-भजन में लग जा।

लाभ कहा मानुष तनु पाये ॥२०१॥
काज कहा नरतनु धरि सार्‍यो ॥२०२॥

इन दोनों में मनुष्य शरीर धारण करने का एक मात्र उद्देश्य राम का ध्यान कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही है। 'घटत न काज पराये'—पिछले विभिन्न पदों में वैराग्य का निरूपण किया है। यह पद गीता के कर्मयोग की ओर मन को आकृष्ट करता है।

श्रीहरि-गुरु-पदकमल भजहु मन तजि अभिमान।

× × ×

तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥२०३॥

भक्त मन को डाँट-डपट कर भगवान् की ओर प्रवृत्त करता है। उसे अनेक प्रकार से भलाबुरा कह कर समझाता है। 'भयं-दर्शना' की भी बात आई है। गुरु और भगवान की प्रधानता दिखाई गई है। 'कबीर' ने भी कहा है—

'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दियो बताय॥'

'नवद्वारपुर'—'कबीर' का भाव इस प्रकार है—

'ऐसी नगरिया में काहे विधि रहना। नित उठ कलंक लगावै सहना॥
एकै कुँवा पाँच पनिहारी। एकै लैजुर भरै नौ नारी॥
फट गया कुँवा बिनस गई बारी। बिलग भईं पाँचो पनिहारी॥
कहैं 'कबीर' नाम बिनु बेरा। उठ गया हाकिम लुट गया डेरा॥

पदसंख्या २०४ में मन को राम-चरण में लगाने की प्रेरणा है। बिना भगवान् की कृपा से भक्ति नहीं मिलती।

२०५ वें पद पर प्रकाश डाला जा चुका है। 'निर्भयं वैष्णवंपदं' की आस्था है।

'सियाराम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ॥'

'सब तज हर भज'—के सिद्धान्त पर २०६ वें पद में मन को शिक्षा दी गई है।

'भजिबे लायक, सुखदायक रघुनायक' ही को मान कर पद सं० २०७ में 'तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस', का व्रत है।

नाथ सों कौन विनती कहि सुनावौं।
बिरद की लाज करि दासतुलसिहिं देव
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ॥२०८॥

शरणागत भक्त अपनी दीनता का निवेदन करते हुए सब तरह से अपना बना लेने की आशा कर रहा है। अपने कर्मों को सोच कर वह लज्जित है। 'कबीर' का भी सुनिए—

'क्या मुख लै विनती करौं, लाज जु आवत मोहि।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहिं ॥'

पद संख्या २०९ में भक्त का आत्म-निवेदन है तथा एकमात्र राम को ही विश्राम-स्थान समझते हुए उनकी शरण ही में रहना चाहता है। देखिए—

नाहिनै नाथ ! अवलम्ब मोहि आन की।
दासतुलसी सोउत्रास नहिं गनत मन,
सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमान की ॥२०९॥

मुझे वेद-बोधित कर्मों तथा हठयोग आदि क्रियाओं पर कुछ भी विश्वास नहीं है। मैं तो संसार में जन्म के भय को नहीं मानता हूँ क्योंकि गुह, जटायु, गजेन्द्र तथा हनुमान आदि विभिन्न योनि के थे, जिनका आपने उद्धार किया है।

और कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरे।
दासतुलसिहिं बास देहु अब करि कृपा,
बसत गज गीध व्याधादि जेहि खेरे ॥२१०॥

तुलसीदास एकमात्र राम-भक्ति चाहते हैं और उसके द्वारा वही गति चाहते हैं जो गजराज, जटायु, व्याधादि को मिली है।

कबहुँ रघुबंसमनि, सो कृपा करहुगे ।
दासतुलसी बेद-बिदित बिरुदावली,
बिमल जस नाथ केहि भाँति बिस्तरहुगे ॥२११॥

भक्त अपने 'मनोराज्य' में विचरण करता हुआ भगवान् से अपने मनोवांछित फल की पूर्ति के लिए आशा कर रहा है।

रघुपति बिपति-दवन ।
तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्ह गति जानकी-रवन ॥२१२॥

प्रभु के गुण-शील को याद कर मन को विश्वास पूर्वक आशा लगाने के लिए दृढ़ कर रहा है।

भगवान के समान दुख को दूर करने वाला कोई नहीं है। वे सहज ही कृपा करने वाले हैं। तुलसीदास के प्रभु ने सबको अभय-दान दिया है॥२१३॥ गजराज की रक्षा के लिए जो भगवान गरुड़ छोड़कर दौड़े तथा द्रौपदी की लज्जा जिन्होंने बचाई, वे भगवान् हमारी अवश्य सहायता करेंगे।

ऐसी कौन प्रभु की रीति ?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥२१४॥

भगवान् को छोड़कर और कोई नहीं है जो अपने बाने की लाज रखने के लिए पवित्रात्माओं को छोड़ कर नीचों का उद्धार करे। जिन्होंने पाप-पुण्य दोनों किया है, उनकी बात कौन कहे ; भगवान् ने तो सीधे हमारे जैसे को जिसने केवल पाप ही किया है ; शरण में रख लिया है। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य हो सकता है।

श्री रघुवीर की यह बानि ।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥२१५॥

भगवान नीचों से उनके प्रेम को जान कर स्वतः प्रेम करते हैं। निषाद, गृद्ध, शबरी, विभीषण, बानर आदि सभी लोगों का कर्म तो निम्न ही था, किन्तु प्रेम देखकर ही अपने स्वभाव से उन लोगों को अपनाया। हे कुटिल तुलसी, तू कपट न कर, ऐसे प्रभु को शीघ्र ही भज।

हरि तजि और भजिए काहि ।
नाहिनै कोउ राम सों ममता प्रनत पर जाहि ॥
दासतुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति ॥२१६॥

भगवान राम ही एक ऐसे हैं जो दीनों तथा शरणागतों पर प्रेम करते हैं। इसलिए उन्हें छोड़ और किसी को नहीं भजना चाहिए। किसी ने राम के समान शरणागत को अभय दान दिया है?

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ।
आपसे कहुँ सौंपिये मोहिं जो पै अतिहि घिनात।
दासतुलसी और विधि क्यों चरन परिहरि जात ॥२१७॥

हे नाथ! मुझे दूसरे किसी का भरोसा नहीं है। इसीलिए बार-बार आपकी शरण में आता हूँ। यदि मुझे देखकर आपको घृणा होती हो तो अपने ही समान किसी दूसरे को सौंप दीजिए क्योंकि यह आप का दास तुलसी दूसरी किसी भी विधि से चरणों को छोड़ कर नहीं जा सकता है। आत्मसमर्पण का पूरा भाव दिखाया गया है।

कबहिं देखाइहौ हरि, चरन?
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥२१८॥

दर्शन रूपी आशा की प्यास से तुलसीदास मरना चाहता है, हे नाथ! आपके, सब दुःखों को दूर करने वाले, कलि के सकल पापों को दूर करके सब प्रकार के कल्याण को देने वाले चरणों का कब दर्शन होगा?

द्वारे हौं भोर ही को आजु।
पेट भरि तुलसिहिं जेंवाइय भगति-सुधा सुनाजु ॥२१९॥

जन्म-जमान्तर से भूखा हुआ आज प्रातःकाल ही से आपके द्वार पर पड़ा पुकार रहा हूँ। हे नाथ! इस तुलसी को पेट भरकर भक्ति-सुधा के समान अमृतोपम सुमधुर अनाज का भोजन कराइये। दूसरे किसी भी अन्न से अथवा उपचार से इसकी क्षुधा तृप्त न होगी। भक्त परमपद की आशा कर रहा है।

करिय सँभार कोसलराय ॥२२०॥

नाथ कृपहिं को पंथ चितवत दीन हौं दिन-रात ॥२२१॥

बलि जाउँ और कासों कहौं ॥२२२॥

उपर्युक्त तीनों पदों में आत्मसमर्पण है। भर्त्सना है। भगवान् की कृपा ही को आधार मानता हुआ भक्त नाना प्रकार के दृष्टांन्तों को देता हुआ मन को तुष्ट करता है।

आपनो कबहुँ करि जानिहौ ॥२२३॥

रघुबरहिं कबहुँ मन लागिहै ॥२२४॥

'मनोराज्य' की परिस्थिति में भक्त भगवान् से अपने मनोवांछित फल की पूर्ति के लिए आशा कर रहा है। अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क से मन में आशा बाँध रहा है।

राम को छोड़ जिसे कोई उनके समान ही स्वामी होगा या उसे स्वयं अपने तप का बल होगा अथवा कलि की करालता का ज्ञान ही नहीं होगा, वही दूसरे और किसी का भरोसा करेगा। तुलसीदास का भला तो रामनाम लेने ही में है, क्योंकि वह मेरे लिए कल्पवृक्ष के समान है। उसके आश्रय में रहकर मैं वैसे ही चिन्तामुक्त रहता हूँ जैसे बालक अपने माता-पिता के राज में निश्चिन्त रहता है ॥२२५॥

भरोसो जाहि दूसरो, सो करो।

अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहिं समुझि परो ॥२२६॥

जिसे दूसरे मार्ग का बल हो, वह उसका भरोसा करे। तुलसी ने तो विचार लिया है कि उसका भला रामनाम लेने ही में है। इसलिए मैं भ्रमात्मक मार्गों पर नहीं जाऊँगा।

२२७ वें पद पर प्रकाश पड़ चुका है। नाम का ही अवलम्ब मान कर अपने मन को उसी में तुलसीदास दृढ़ करने का सदुपदेश देते हैं। दुनिया के सभी बखेड़ों से दूर रहना चाहते हैं।

२२८ वें में रामनाम के प्रभाव का वर्णन है। उल्टा-सीधा जपने से वाल्मीकि, अजामिल आदि अनेक तर गए हैं। अधिक क्या कहें जिसे जप

तुलसी-सरीखे बुरे लोग भी डंके की चोट पर अच्छे हो गये। राम से भी बढ़ कर राम के नाम का महत्व बतलाया है।

पद संख्या २२९ पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस पद से तुलसी की जन्म-दशा का परिचय प्राप्त होता है।

राम से बढ़कर अकारण ही हित करने वाला कोई नहीं है; तुलसी जैसे नीच को भी उन्होंने अपना बना लिया है। वे अशरण-शरण हैं। सभी छोटे-बड़े देवता स्वार्थ चाहते हैं किन्तु राम निःस्वार्थ मुक्ति देने वाले हैं। दुष्ट, भील, बानर, रीछ आदि तक को इन्होंने अपनाया है ॥२३०॥

और मेरे को है काहि कहिहौं ॥२३१॥
दीन बन्धु दूसरो कहँ पावों ? ॥२३२॥

इन सबमें शरणागत होकर शुद्ध हृदय से आत्मसमर्पण है।

मनोरथ मन को एकै भाँति ॥२३३॥

'मनोराज्य' की स्थिति है।

२३४ से २३७ तक आत्मग्लानि, भर्त्सना, है।

२३८ में आत्म-निवेदन है। भगवान् ही पर भरोसा है।

जाको हरि दृढ़ करि अँगु कर्यो।
सोइ सुसील पुनीत वेदविद, विद्या-गुन न भर्यो ॥
तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जीवत पंथ खर्यो ॥२३९॥

जिस पर भगवान् की कृपा है, वही सर्वगुण-सम्पन्न पवित्र एवं सुशील है। तुलसीदास इसीलिए केवल श्रीराम की कृपा का ही पथ देखता रहता है, वह और कुछ जानता ही नहीं है।

२४० वें पद में भी राम-कृपा की श्रेष्ठता का वर्णन है।

तब तुम्ह मोहूँ से सठनि हठि गति न देते।
कैसेहुँ नाम कहो कोउ पाँवर सुनि सादर आगे ह्वै लेते ॥
हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरें चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मो पै परिहास एते ॥२४१॥

इस पद में यह भाव दिखाया गया है कि भगवान् यदि वास्तव में नीचों, पतितों, दुष्टों का किसी भी रूप से नाम लेने पर उद्धार करते आये होते तो तुलसीदास का भी उद्धार कर दिए होते। तुलसीदास जी कहते हैं कि मैं अब-तक उसी आशा पर आपकी कृपा की ओर देखता रहा, किन्तु आप तनिक भी न चैतन्य हुए अर्थात् हमारे ऊपर कृपा नहीं किए। इसलिए जो तुम व्यर्थ में उद्धार-सम्बन्धी अनेक प्रमाण-पत्रों को लिए घूमते हो, उसकी निरर्थकता का मैं पूतला बाँधूगा और जगह-जगह कहता फिरूँगा कि राम को झूँठ ही लोग, दीन-दयाल, अवढर-ढरन, पतित-पावन, अशरण-शरण आदि नामों से पुकारते हैं। पुराणादि के सभी प्रमाण भी असत्य हैं। वे घूस देकर प्राप्त किए गए हैं। वास्तव में उस योग्य राम नहीं हैं। तब तो तुम अवश्य लज्जित होकर हमें दौड़कर बदनामी से बचने के लिए अपना लोगे।

२४२ वें पद में भक्त आराध्य देव की महत्ता को समझ कर अपने लघुत्व का अनुभव कर रहा है। वह अपनी लघुता और प्रभु की महत्ता का वर्णन समान आनन्द से कर रहा है। भगवान की अनन्त शक्ति के प्रकाश में वह अपनी दीनता का स्पष्ट चित्र देख रहा है। प्रभु की असीम शीलता-पवित्रता के आगे वह अपने को पाप का पुंज समझ रहा है। इसलिए प्रभु की शरण में जाकर आत्म-शुद्धि चाहता है।

२४३ वें पद में वह आत्मसमर्पण के साथ अपनी भलाई देख भगवान की शरण में जाकर कृपा का पात्र बन गया है। पुनः २४४ में भी अनुभूति है :—

तुम सम ज्ञान निधान न मोसम
मूढ़ न आनि पुरानि गायो।
तुलसिदास प्रभु यह विचारि जिय
कीजै नाथ उचित मनभायो ॥२४३॥

अपना निर्णय भगवान् पर छोड़ कर भक्त निश्चिन्त है।

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।
डासतहीं गइ बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो ॥२४५॥

'भर्त्सना' की स्थिति में भक्त भगवान् के सामने अपना सब भेद, दुःख कह देता है और प्रार्थना करता है। मन को दोषी ठहराता है।

२४६ वें पद में भी भगवान् के गुणों को जानते हुए विमुख होकर दुःख उठाने का कारण स्पष्ट किया गया है। तुलसीदास कहते हैं, हे नाथ! हमारी हार-जीत आपके ही हाथ में है। इसे मैं पूर्ण रूप से जानता हूँ।

पदसंख्या २४७ वें पर प्रकाश डाला जा चुका है। रामनाम का माहात्म्य वर्णन किया गया है।

पाहि पाहि राम! पाहि, रामभद्र रामचंद्र
सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।
पील-उद्धरनि सीलसिन्धु ढील देखियतु,
तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन ॥२४८॥

भक्त राम की शरण में आ जाता है। रक्षा की पुकार करता है। शरणागत-वत्सलता के अनेक दृष्टान्तों के आधार पर अपनी मुक्ति चाहता है। तुलसीदास कहते हैं, हे नाथ! आपकी शिथिलता देखकर मैं ग्लानि से गला जा रहा हूँ। अरे! आप तो हाथी तक की रक्षा के लिए गरुड़ छोड़कर पैदल ही दौड़ते हैं; मैं तो जन्म-जन्मान्तर से आपका दास मनुष्य-योनि में जन्मा हुआ मुक्ति का अधिकारी तुलसीदास हूँ। क्यों नहीं अपना बना लेते हैं।

२४९ वें पद में तुलसीदास जी अपने समय के राजाओं तथा साहब-सूबाओं, सम्पन्न व्यक्तियों तथा देवी-देवताओं के बारे में कह रहे हैं कि—मैंने सबको भली-भाँति जान समझ लिया है। सभी माया में लिप्त अनीति पर चलने वाले प्रेम-हीन हैं। उनका सब व्यवहार कपट से भरा हुआ है। हे राम! तू कल्प-वृक्ष है। मैं चाहता हूँ कि सदा तेरी छाया में रहूँ। यह तुलसी कलिकाल के हिंसा, असत्य, पाखण्ड, व्यभिचार आदि कुधर्मों से व्याकुल हो रहा है। हे नाथ! आपकी बलि जाऊँ, शीघ्र मेरी रक्षा करें। 'घट घट के मरम'—के सम्बन्ध में 'कबीर' ने भी ठीक कहा है—

'पावक रूपी साइयाँ, सब घट रहा समाय।
चित-चकमक लागै नहीं, तातें बुझि-बुझि जाय॥'

इसके बाद २५० वें पद में तुलसीदास की जन्म-दशा का भी आभास है।

तौ हौं बारबार प्रभुहिं पुकारि कै खिझावतो न
जो पै मोको हो तो कहुँ ठाकुर ठहरु।
कहे ही बनैगी, कै कहाये, बलि जाउँ राम,
'तुलसी ! तू मेरो हारि हिए न हहरु' ॥२५०॥

हे राम ! यदि मेरा और कहीं ठिकाना होता तो बार-बार आपको पुकार कर खिझाता नहीं। मेरे तो आप ही राम राजा हैं और अयोध्या ही मेरा शहर है। हमारे आपके बीच एक स्थान में रहने का सम्बन्ध है और मैं सदा से आपका दास कहला आया। इसलिए आज तो बिना कहे बन नहीं सकता, कहना ही पड़ेगा। हे नाथ ! मैं बलिजाऊँ। आप केवल इतना कह दें कि— 'तुलसी ! तू मेरा है, निराश होकर भय को न प्राप्त हो।' बस, इतने ही से इस दास की बन जायगी।

राम, रावरो सुभाव, गुन सील महिमा प्रभाव,
जान्यो हर हनुमान लखन भरत।
औरनि की कहा चली ? एकै बात भलै भली,
राम-नाम लिए तुलसी हूँ से तरत ॥२५१॥

हे राम ! आपके स्वभाव, गुण, तथा महिमा के प्रभाव को शंकर, हनुमान, लक्ष्मण और भरत जानते हैं, जिनके हृदय रूपी थालहे में भक्ति रूपी कल्प-वृक्ष शोभित है एवं सरस फूल-फल देता है, उसका प्रभाव तो इसी से मालूम है कि तुलसी जैसे निकम्मे भी तर गए। तुलसीदास का कहना है कि भगवान के ऐश्वर्य को स्वयं शिव जी जानते थे और उसका गुणानुवाद 'रामचरित-मानस' में किए हैं। इस पर आंशिक रूप से प्रकाश अन्यत्र डाला जा चुका है।

२५२ वें पद पर प्रकाश पड़ चुका है। भक्त इसमें सब कुछ दोष अपना ही देता है। 'दीनता' का प्रदर्शन है।

राम राखिये सरन राखि आए सब दिन।
जाहि सूल निरमूल, होहिं सुख अनुकूल,
महाराज ! राम ! रावरी सौं तेहि छिन ॥२५३॥

हे राम सदा से शरण में रख आए हैं इसलिए आज भी शरण में रखिये। हे नाथ ! मैं बलिजाऊँ ! एक बार प्रसन्नता से अथवा अप्रसन्नता से, मुस्कराकर, किसी भी प्रकार इतना क्यों नहीं कह देते हैं कि—'तुलसी, तू मेरा है !' इतना कहते ही मेरे समस्त शूलों का उन्मूलन हो जायगा, दुःख का नाम भी न रहेगा। हे महाराज राम ! मैं आप ही की शपथ खाकर कहता हूँ कि उसी क्षण से समस्त सुख मेरे अनुकूल हो जायँगे।

राम रावरो नाम मेरो मातु-पितु है ॥२५४॥

राम ही को सब कुछ मान कर तुलसीदास जी अपनी मुक्ति की आशा करते हैं। रामनाम के समान कोई भी हित करनेवाला नहीं है।

२५५ वें पद पर प्रकाश डाला जा चुका है। रामनाम को तुलसीदास जी साधुओं के लिए कल्पवृक्ष के समान मानते हैं :

कहे बिन रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत।
मेरी तौ थोरी ही है सुधरैगी बिगरियौ
बलि, राम रावरी सौं रही रावरी चहत ॥२५६॥

हे राम ! कहने से बात में रस नहीं रह जाता है तथा न कहने से भी नहीं बनता है। आप की मर्यादा बहुत बढ़ी हुई है। 'सदा से दीनानाथ, पतितपावन, अशरण-शरण नाम से प्रसिद्ध हैं। मेरी तो थोड़ी है, बात बिगड़ करके भी बन सकती है। किन्तु, बलिहारी ! हे नाथ ! आपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि मुझे न तारोगे तो आपका बड़ा उपहास होगा। भला, आप जैसे ऐश्वर्यशाली का दास कहला कर कलि के कुटिल कर्मों तथा लोगों द्वारा मैं दुःख पाता रहूँ, यह कितनी लज्जा की बात है।

हे नाथ ! यदि आप हमें त्याग देंगे तो मुझ दीन के लिए कहीं भी दूसरी शरण नहीं है। आपने तो अहिल्या, जटायु, कोल-गुह निषाद, वाल्मीकि, विभीषण तथा दंडकारण्य के वृक्षों आदि पर दया की है और उन्हें गति दी है। आप से नीची-ऊँची सभी बातें कही जा सकती हैं, क्योंकि आप शील के समुद्र हैं, आपही एकमात्र मेरा दुःख दूर कर सकते हैं। संसार में मुझे और किसी का भरोसा नहीं है ॥२५७॥

२५८ वें पद पर प्रकाश अन्यत्र पड़ चुका है। इसीसे मिलता हुआ बिहारी का एक दोहा है—

"कब कौं टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जगनायक! जग बाय?॥"

पदसंख्या २५६ में तुलसीदास कहते हैं कि हे नाथ! यदि आपकी बनाई बात मुझसे बिगड़ जायगी तो संसार आपकी हँसी उड़ाएगा कि राम से तुलसी ही बड़ा है, उसने राम का भी बनाया बिगाड़ दिया। किन्तु ऐसा नहीं होगा, हमें विश्वास है। हे राम! आप अवश्य मुझे अपना बनायेंगे। मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ—यह तुलसी मन, बचन और कर्म से अपना निर्वाह आपही के हाथ में समझता है।

२६० वें पद में तुलसी कहते हैं—जब स्वामी अपना मुँह फेर लेते हैं तब प्रमुख भृत्यों को भी कोई नहीं पूँछता। तुलसी को तो इसी संसार में कहीं ठिकाना नहीं है तो मरने पर स्वर्ग में स्थान मिलेगा या नहीं? इसे कौन कहे। इसलिए मैंने अपने मनको बार-बार समझा कर कह दिया है कि वह स्वामी को चेतावनी दे दे कि—उसे केवल आपही का भरोसा है। भक्त विचारणा की स्थिति में है। इष्टदेव की ओर उन्मुख है।

हे नाथ! मेरे बनाने से कुछ न बनेगा। मुझे आपही का भरोसा है। यही नहीं मेरे बनाने से तो कल्पान्त तक नहीं बनेगा और यदि आपकी कृपा हो गई तो पल भर में बन जायगा। तुलसी को राम से की गई प्रीति का ही विश्वास है ॥२६१॥

हे भगवान! बिना कहे धैर्य नहीं आता तथा कुछ कहा भी नहीं जाता, किन्तु आप जैसे महान् के समक्ष अपनी दीनता के निवेदन में आनन्द ही आता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ! मैं केवल आपकी गंगा की धारा के समान पवित्र भक्ति में दीन मीन की भांति आनन्दानुभव करना चाहता हूँ। मेरी और कोई इच्छा नहीं है ॥२६२॥

नाथ! नीके कै जानिबी ठीक जन-जीय की ॥२६३॥

हे रामजी! आप मेरे मन की बात को ठीक-ठीक समझ लें। मैंने सब

तरह से आपको अपना बना लिया है। मुझे अलग न कीजिए। आत्मसमर्पण की भावना है।

मेरो कह्यो सुनि जिय पुनि भावै तोहिं करिसो ॥२६४॥

हे जीव! तू मेरा कहना एक बार सुन ले, पुनः तुम्हें जो कुछ अच्छा लगे, उसे करना। इस पद पर अन्यत्र प्रकाश पड़ चुका है। मन को भय दिखला कर इष्टदेव के सम्मुख करने के लिए भक्त प्रयत्न कर रहा है। यहाँ वह 'भय-दर्शना' की स्थिति में है।

तन सुचि, मन रुचि, मुख कहौं जन हौं सिय-पी को।
निकट बोलि बलि बरजिए परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़ जी को॥

इस पदसंख्या २६५ में तुलसीदास कहते हैं कि हे नाथ! मेरा शरीर स्वच्छ है, मन में भी इच्छा है और मुख से तो बार-बार कहता हूँ कि मैं सीतापति श्रीराम का दास हूँ, किन्तु फिर भी न जाने किस अभाग्य से आपसे प्रेम नहीं कर पा रहा हूँ। मुझे कलियुग अधिक कष्ट दे रहा है। उसे बुलाकर रोक दीजिए, जिससे वह तुलसी जैसे जड़ जीव पर ध्यान न दे, उनका पीछा छोड़ दे, क्योंकि उसके कारण मैं आपकी आराधना शान्तिपूर्वक नहीं कर पा रहा हूँ। 'मान-मर्षता' तथा 'भय-दर्शना' दोनों की स्थिति है। विशेषता यह है कि साधना करने के आरम्भ में अनेक विघ्न आते हैं। मन पाप में ही रमा रहता है। कलि अपनी कुचाल से जीव को कुप्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करता है।

ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों-त्यों दूरि परयो हौं।
चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभु सों गुदरि निबरयो हौं॥

हे कृपानिधान! मैं ज्यों ज्यों आपके निकट पहुँचना चाहता हूँ, त्यों-त्यों दूर होता जा रहा हूँ। हे नाथ! आप चारों युगों से एकरस हैं, मैं भी सदा से आपही का होता हुआ चला आया हूँ, किन्तु मैं पापों से भरा हुआ हूँ। मैं कलियुग द्वारा छला गया हूँ। मैं सुवर्ण था लेकिन इसने दोषयुक्त कर दिया। मैं अनेकानेक जंगल-पहाड़ों में भटकता रहा किन्तु आप के बिना सदा अशान्त रहा। जब मैं चित्रकूट गया, वहाँ इस कलि की सब कुचालों का पता मुझे चल गया। अब मैं अपने ही डर से डर रहा हूँ। हे नाथ! मैं आपके

सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हूँ, यह कलि मुझे पहिचाने हुए चोर की भाँति मार डालेगा, इसकी सूचना मैं आपको दे दे रहा हूँ। आप जैसा उचित समझें, करें। 'विचारणा' की स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त भगवान् की ओर उन्मुख होने की चेतावनी उन्हें दे रहा है।

२६७ वें पद में तुलसीदास कहते हैं कि हे नाथ! मैं कलि से बहुत डर गया हूँ। इसलिए आपके द्वार पर प्रण करके आज बैठ गया हूँ। जबतक यह नहीं कहेंगे कि 'तू मेरा है' तबतक जन्म भर यहाँ से न उठूँगा। यदि महान् पापों को सोच कर प्रगट रूप से नहीं अपना सकते हैं तो मन ही में अपना लीजिए। भगवान् के कमलवत् चरणों की शरण के लिए अधीर हो रहे हैं। सूर ने भी एक जगह ऐसा ही कहा है—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
'सूर' पतित तबहीं लै उठिहै जब हँसि दैहो बीरा॥'

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
तुलसीदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनंद उमगि उर भरिहै॥

इस २६८ वें पद में 'मान-मर्षता' है। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ! जब मेरे मन से विषय-वासनाओं का लोप हो जायगा तभी मैं जानूँगा कि आपने मुझे अपना बना लिया। हे नाथ! जिस समय मेरा मन आपके गुणों के गान को सुनकर प्रसन्न होता रहेगा तथा आँखों से प्रेमाश्रु की धारा बहती रहेगी, उस समय मुझे विश्वास होगा कि मैं आपका दास हो गया। उस समय के प्रेम को देख कर मेरा हृदय आनन्द से भर जायगा और मैं ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगूँगा।

राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ?२६९॥

इस पद में भक्त 'मनोराज्य' की स्थिति में पहुँच कर भगवान से अपने मनोवांछित फल की पूर्ति के लिए आशा कर रहा है।

कबहुँ कृपा करि रघुबीर! मोहूँ चितै हो॥२७०॥

इसमें भी 'मनोराज्य' की स्थिति है। भगवान् ही को भक्त सर्व सुख-साधन समझ रहा है तथा उसे आशा है कि भगवान् उस पर कृपा करेंगे।

२७१ वें पद में अपनी दीनता का निवेदन करते हुए भक्त भगवान् की शरण में आकर सब तरह से आत्मसमर्पण कर बैठ जाता है। वह किसी और की उपासना नहीं करना चाहता है। मानमर्षता भी प्रकट करता है।

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो ॥२७२॥

इसमें तुलसीदास जी अभिमान को छोड़ कर सब तरह से भगवान् की शरण में आ गए हैं। कहते हैं कि हे नाथ! यदि आप भी न अपनाएँगे तो संसार में मेरा कहीं भी ठिकाना नहीं लगेगा मैं आजीवन आप ही का होकर रहा हूँ तथा आप ही का दास बन कर माँगता खाता आया हूँ। और किसी देवता की उपासना भी नहीं करता था। सब तरह से मैं ही अपराधी हूँ। इस प्रकार दीनता का भी निवेदन करते हुए कहते हैं कि अब शीघ्र अपनाइए, नहीं तो देर करने से मैं और अधिक बिगड़ता जाऊँगा तथा आपको मेरे उद्धार के लिए अधिक श्रम करना पड़ेगा।

तुम तजि हौं कासों कहौं, और को हितु मेरे ?२७३॥

यहाँ भक्त 'विनय' की भूमिका के अनुसार 'आश्वासन' की स्थिति में है। सब तरह से प्रभु के ऊपर निर्भर रह कर उसी के बल पर अपने मन को अश्वासन देता है तथा अपना उद्धार करने के लिए प्रयत्नशील होकर आगे बढ़ता है।

जाऊँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव ! दुखित दीन को ?।२७४॥

'अश्वासन' की स्थिति में भक्त अपने को पा रहा है।

जन्म-दशा का वर्णन करते समय २७५ वें पद पर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। आत्म-निवेदन, दीनता, मानमर्षता की स्थिति में भक्त भगवान का सब तरह से कृपापात्र होना चाहता है।

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
तुलसी नमत अवलोकिये, बलि, बाँह-बलि दै बिरदावली तकि आयो ॥
—विनय-पत्रिका, २७६

इस पद में तुलसी ने जीवन की पूरी झाँकी दी है। दीनता का तो प्रदर्शन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जब वे कहते हैं कि—

महिमा मान प्रिय प्रानते तजि खोलि खलनि आगे खिनु-खिनु पेट खलायो॥
तथा—असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो।

बिना राम के कहीं भी शान्ति-सुख नहीं है। उस समय के अभित्रस्त समाज की दीनदशा के निवेदन से पूर्ण 'पत्रिका' यहाँ पूरी होती है। इसके बाद विश्व सम्राट राम की सभा में उनके सामने इसे किस प्रकार रक्खा जाय, यह प्रश्न आता है। पद संख्या २७७ में तुलसीदास ने लिख दिया है कि हे राम! बिना आपके मानवता का कल्याण कोई नहीं कर सकता है। इसलिए यह दीनों की ओर से जो 'विनय-पत्रिका' जा रही है, इसे हे दीनों के बाप! आप स्वयं पढ़ें और विचार करें। तुलसी ने निष्कपट भाव से इसे बिना हृदय में कुछ छिपाए लिखा है, यदि आवश्यक हो तो अपनी सभा के पंचों से भी पूँछ लें।

पद संख्या २७८ में राम की सभा के हनुमान, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न आदि सभासदों से प्रार्थना करते हैं कि—मैंने आरंभ ही में अपनी सारी दीनता का निवेदन कर दिया है। अब समय आ गया है। आप लोग अपने-अपने स्थान पर इस दीन का ध्यान रक्खें मैं आप लोगों की बलैया लेता हूँ। आप लोग यदि मेरी दीनता का समर्थन कर देंगे तो इस दीन-दुर्बल दास की आशाएँ पूरी हो जाँयगी और रामजी मेरी 'पत्रिका' को स्वीकृत कर लेंगे। दरबार में बड़े लोगों की बात का समर्थन तो सभी करते हैं किन्तु यदि आप लोग इस दीन का समर्थन कर देंगे तो इसे भगवान अपनी शरण में ले लेंगे। इससे आप लोगों को पुण्य मिलेगा तथा सुयश का विस्तार होगा। आपके स्वामी आप पर प्रसन्न होंगे तथा आपका स्वार्थ और और परमार्थ दोनों बन जायगा। इसलिए अवसर का ध्यान करके इस दीन-मलीन तुलसी की बात को बना दीजिएगा। भक्तों पर दया करनेवाले रामजी से मुझ पराधीन की प्रेम-पद्धति को पूर्णरूप से समझा दीजियेगा।

मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है॥
—विनय, २७९

राम की सभा आज प्रसन्न मुद्रा में लगी है। राम-अपनी आह्लादिनी शक्ति जानकी सहित सिंहासन पर बैठे हैं। सभी सभासद अपने-अपने काम में लगे हैं। उसी समय तुलसी की 'विनय-पत्रिका' पहुँची। हनुमान और भरत ने धीरे से लक्ष्मण जी से कहा कि—बहुत ही उपयुक्त अवसर है, तुलसी का परिचय करा देना ठीक है। लक्ष्मण जी ने 'पत्रिका' पेश कर दी। उन्होंने तुलसी की दशा का निवेदन किया तथा हनुमान आदि सभी ने समर्थन किया और अन्त में भगवान ने हँस कर कहा कि—मुझे भी सूचना है (जानकी जी से) ऐसा कहकर 'सही' बना दिये। यह देख तुलसी ने प्रसन्नता से शिर झुकाया और शरण में आ गए।

———

गीति-काव्य और विनय-पत्रिका

'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥'

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने जब काममोहित क्रौञ्च पक्षी का वध देखा तब करुणाभिपूरित स्वर में उनके हृदय का भाव गीत बन कर अपने आप ही उपर्युक्त शब्दों में निःसरित हुआ। उसका भाव यह है कि हे व्याध, तूने काम-मोहित क्रौञ्च पक्षी के एक सहचर का वध किया है ; तुझे कभी भी प्रतिष्ठा न प्राप्त होगी। गीति-काव्य की उत्पत्ति सदैव करुण रस से ही होती है। संस्कृत साहित्य में इसका प्रसार अधिक मिलता है। वैसे तो वैदिक-काल से ही गीति-काव्य का आरम्भ हुआ है। सामवेद संगीत से भरा पड़ा है। चारों वेद छन्दों ही में लिखे गये हैं। गीतों का आदि स्रोत सामवेद ही है। आगे चलकर भवभूति संस्कृत साहित्य में करुण रस के अवतार माने गये हैं। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है :—

'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

उत्तर रामचरित में महाकवि भवभूति ने विशेषतया करुणरस का ही प्रति-पादन किया है। अन्य रस सामान्यरुप में ही आये हैं।

काव्य का सबसे अधिक माधुर्यपूर्ण अंग गीत ही माना गया है। गीत में संगीत और छन्द बँधा हुआ चलने के कारण ही उसकी गणना उत्तम काव्य में की जाती है। गीति-काव्य में करुण रस की प्रधानता के साथ-साथ व्यक्तिगत विचार, आत्माभिव्यक्ति, आशा-निराशा और भावोन्माद का भी प्रावाह रहता है। संगीत को तो गीत का पूरक माना गया है। हृदय के आन्तरिक भाव जब संगीत का रूप धारण करते हैं तब उसे गीत की संज्ञा दी जाती है। इसका सम्बन्ध अन्तर्जगत से है। गीतकार सर्वप्रथम वियोग से व्याकुल होता है और

जब उसकी व्याकुलता पराकाष्ठा पर पहुँचती है तब गीत अनजान ही में प्रस्फुटित होने लगते हैं। सुकोमल प्रकृति श्री सुमित्रानन्दन 'पन्त' ने अपना अभिमत इस प्रकार दिया है—

'वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

गीति-काव्य द्वारा ही कवि का सहज व्यक्तित्व परिलक्षित होता है। गीतों का आविर्भाव कोमलकान्तपदावली से होने के कारण कवि इस जगत से बहुत ऊँचे उठ जाता है। इसके माध्यम से वह बाह्य जगत का साक्षात्कार सहज ही में कर लेता है।

"Where there is music, there is joy." अंग्रेजी के किसी कवि के अनुसार 'संगीत ही आनन्द है', ऐसा माना गया है। वास्तव में संगीत का रहस्य अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। गायक सबसे पहले आँखें बन्द करके एक अज्ञात वस्तु की खोज करता है। वह रागविशेष का एक प्रमुख चित्र निश्चित करता है। उसके बाद संगीत द्वारा मनुष्य, पशु-पक्षी सभी को मंत्र-मुग्ध कर देता है। तानसेन और बैजूबावरे का प्रसङ्ग इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

संक्षेप में 'मुक्तक-काव्य' का ही दूसरा नाम 'गीति-काव्य' है। इसका स्वरूप लघु होना चाहिये। परन्तु भावों के प्रवाह का अवरोध नहीं होना चाहिये। गीतों का अलङ्कार की जटिलता से मुक्त होना भी आवश्यक है।

गीति-काव्य के लिए शृङ्गार, वात्सल्य और शान्त रस ही उपयुक्त माना जाता है। शृङ्गार रस में संयोग शृङ्गार से अधिक उपयुक्त विप्रलम्भ शृङ्गार होता है क्योंकि हृदय पर इसका प्रभाव अधिक पड़ता है। मानव-हृदय में सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए करुणा अधिक सहायिका सिद्ध होती है और विप्रलम्भ शृङ्गार में ही इसकी मात्रा अधिक पाई जाती है। यही कारण है कि शृंगार का यह पक्ष इसके लिए उपयुक्त माना गया है। यों तो गीति-काव्य की रचना वीर रस में भी की गई है किन्तु उसमें माधुर्य का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

"कुल बोरनो हमरे पाले परीं।
खुरपी हमरे, खुरपा हमरे ; टेकुवा लेइके निरावे चलीं ॥"

महात्मा तुलसी ने भी 'लक्ष्मण-परशुराम-संवाद' तथा 'अंगद-रावण-संवाद' में व्यंग्य का सुन्दर प्रयोग किया है।

(५) शोक गीत

इसकी प्रथा हिन्दी में अंग्रेजी साहित्य से चली है। अंग्रेजी में इसको एलिजी (Elegy) कहते हैं। अपने किसी निकटतम स्नेही अथवा किसी नेता की मृत्यु के अवसर पर लिखे गये गीत को शोक-गीत कहते हैं। मानसिक शोक, निराशा, व्यक्तिगत प्रेम, विरह आदि विषयों पर ही इन गीतों का प्रणयन होता है। गांधी, मालवीय, जैसे नेताओं के निधन पर लिखे गये गीत राष्ट्रीय शोक से आपूर्ण हैं। भारतेन्दु गुप्तजी, बच्चन एवं दिनकर आदि वरेण्य कवियों द्वारा ये गीत अधिक लिखे गये हैं।

(६) युद्ध-गीत

रामायण, महाभारत, ईलियड और ओडेसी आदि प्राचीन महाकाव्यों की रचना युद्ध गीत या वीर गीत के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार के गीतों का विकास इन्हीं ग्रन्थों में पाया जाता है।

(७) वीर गीत

वीर-गाथाकाल के गीतों को वीरगीत कहते हैं। जगनिक का 'आल्हाखण्ड' इसका भण्डार है।

(८) नृत्य गीत

नृत्य के साथ कोरस के रूप में गाए जाने वाले गीतों नृत्यगीत कहते हैं। हिन्दी में इन गीतों का अभी अभाव है। लोक-गीतों का ही यह परिष्कृत रूप है।

(९) उपालम्भ गीत

ऐसे गीतों की उत्पत्ति प्रेमी की निष्ठुरता के कारण होती है। भ्रमर-गीत में सूरदास ने मार्मिक उपालम्भों का चित्रण किया है। इसे उपालम्भ-काव्य भी कहा जाता है।

(१०) सम्बोधन गीत

इसे अन्योक्ति भी कहते हैं। मेघदूत में मेघ को सम्बोधित किया गया है। अंग्रेजी में इसे ओड (Ode) कहते हैं। हिन्दी साहित्य में इसकी प्रथा अधिक मात्रा में है।

(११) गीतिनाट्य

नाटकीय पद्धति पर लिखा गया गीतिकाव्य ही गीतिनाट्य है। सफल कवि ही इसकी रचना कर सकते हैं। 'प्रसाद', 'निराला', उदयशंकर भट्ट और भगवती चरण वर्मा आदि इसमें कुशल हैं।

(१२) चतुर्दशपदी गीत (Sonnet)

इसकी प्रथा अंग्रेजी ही से हिन्दी में आई है। इसका विकास बहुत कम हो पाया है। यह हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

इन सबके अतिरिक्त राष्ट्रीय गीत और लोक गीत भी आते हैं। लोक गीत को अंग्रेजी में फौल्क सौङ्ग (Folk song) कहते हैं। इस प्रकार के साहित्यिक गीत को लिरिक (Lyric) कहते हैं। रामनरेश त्रिपाठी एवं देवेन्द्र सत्यार्थी आदि का प्रयास इस दिशा में अधिक सराहनीय है।

हिन्दी साहित्य में गीति-काव्य को तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है:—पहला आदिकाल, दूसरा मध्यकाल और तीसरा आधुनिक काल। इनमें से मध्यकाल को अधिक श्रेय है क्योंकि इसी काल में सूर, तुलसी एवं कबीर आदि की वाणी से निकली हुई प्रशस्त भावनाओं के आधार पर गीति-काव्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ है। इनके द्वारा विरचित लोक-कल्याणकारी, अनन्त काल तक अमिट प्रभाव डालने वाले सुमधुर गीतों का प्रचार एवं प्रसार सर्वत्र हुआ है। इस युग में जिन गीतों की रचना हुई वे राग-रागिनियों से भरे पड़े हैं। निर्गुणोपसना तथा सगुणोपासना सम्बन्धी इनकी दो धारायें हैं। एक में प्रेम और दूसरे में भक्ति की भावना सन्निहित है। पहला रहस्यवादी दृष्टिकोण पर है जिसे कबीर, दादू और नानक आदि ने अपनाया।' दूसरा भक्ति-समन्वित भावना को लेकर है जिसे सूर, तुलसी जैसे महान् सुधारक तथा लोक-मंगलाशा के महाकवियों ने अपनाया। मीराबाई के पदों को भी अधिक श्रेय मिला है।

सूर ने 'सूर-सागर' जैसे ग्रन्थरत्न का प्रणयन कर यदि भक्त-हृदय को प्रेम में सराबोर किया है तो तुलसी ने वहीं पर 'विनय-पत्रिका' जैसे महान लोक-रंजनकारी गीति-काव्य की रचना द्वारा आत्मबोध करा कर जो काम किया है उसका आभार मानवमात्र को अनन्तकाल तक प्रदर्शित करना पड़ेगा।

विद्यापति और कबीर तुलसीदास के पूर्ववर्ती गीति-काव्य के प्रणेता हैं। 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास जी ने जिस प्रकार आत्मबोध कराया है, विद्यापति और कबीर इससे भिन्न पथ के अनुगामी दिखाई पड़ते हैं। भक्त की जिस करुणाभिपूरित दीनता, मानमर्षता, भय-दर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा आदि दशाओं का चित्रण साङ्गोपाङ्ग 'विनय' में किया गया है, अन्य किसी भी कवि के द्वारा नहीं हुआ है। मीराबाई तुलसी के ही समय में थीं। उनके पदों में तुलसी की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। तुलसी के पदों में इस लोक की संयोगात्मक एवं वियोगात्मक अनुभूतियों का रागात्मक स्वरूप नहीं दिखाई देता है। इन्होंने आराध्य-देव से साधक के पारलौकिक सम्बन्ध की रागात्मक अनुभूति का परिज्ञान कराया है।

'विनय-पत्रिका' में गीति-काव्य के जितने भी विशिष्ट गुण हैं, सबका समावेश बड़ी कुशलता के साथ है। कुछ पदों को छोड़कर सभी संक्षिप्त और गेय हैं। 'विनय' में पाँच-सात पंक्तियों के पद अधिक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें तुलसीदास जी ने विभिन्न रागरागिनियों को समय तथा भावों के अनुकूल ही प्रतिपादित किया है। जितने भी पद हैं, सबका प्रभाव सीधे हृदय पर पड़ता है। इसका मुख्य कारण यह है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहीं किसी भी रूप में अपने अन्तः करण को अस्पष्ट नहीं रक्खा है। आद्योपान्त सरसता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। सहज नम्रता का कहीं भी अभाव नहीं है। शृङ्गार, वात्सल्य, शान्त और करुण सभी रसों का सुन्दर परिपाक 'विनय' में हुआ है। 'गीति-काव्य' के ये ही चार रस आधारशिला का काम करते हैं। इसलिए निःसंकोच भाव से यह कहा जा सकता है कि 'विनय-पत्रिका' सर्वोत्कृष्ट 'गीति-काव्य' है।

———